

परम्पराशील नाट्य

[श्रीजगदीशचन्द्र माथुर, आई. सी. एस्.]



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-४

आशुतोष अवस्थी

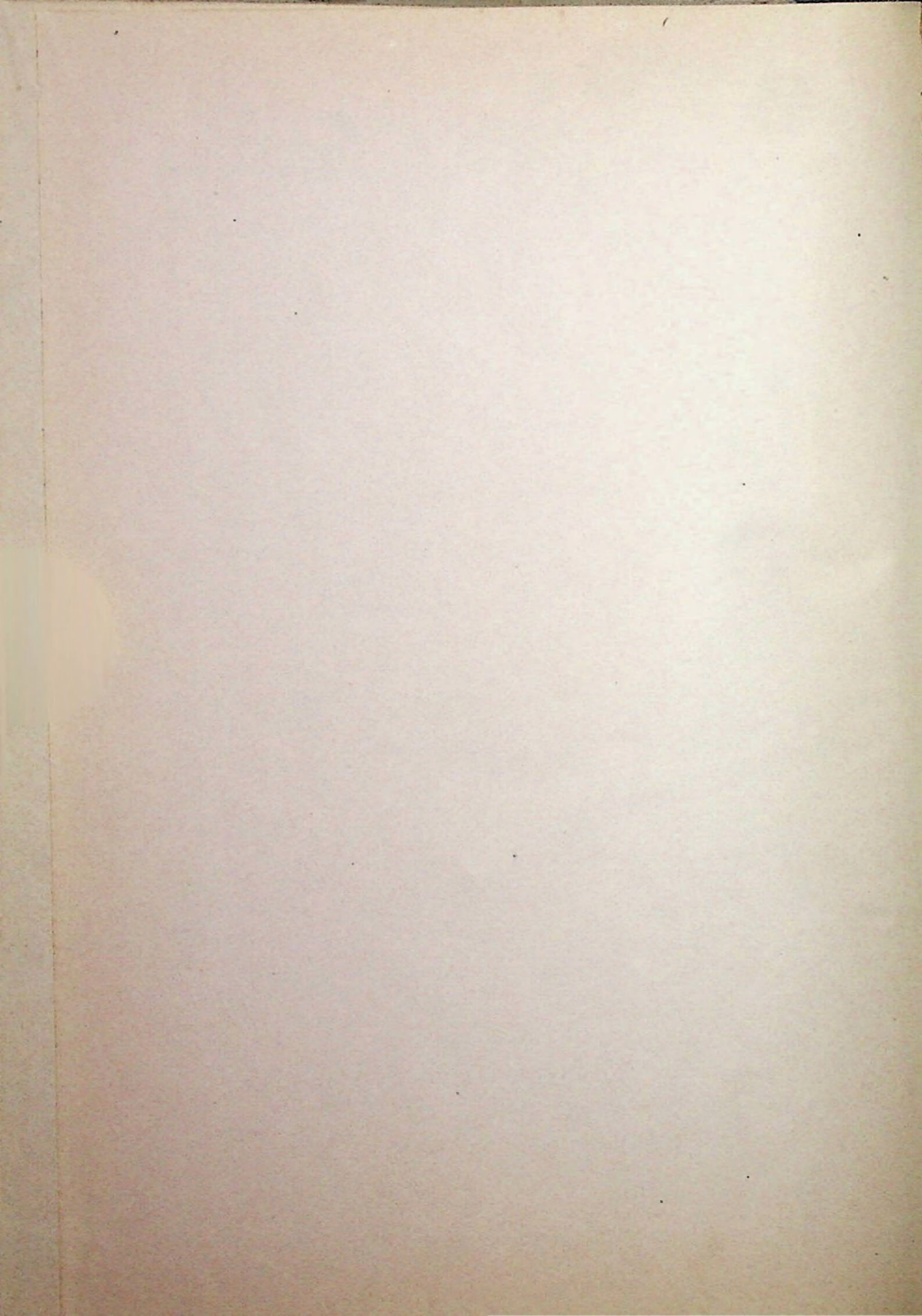
अध्यक्ष

श्री नारायणेश्वर वेद वेदाङ्ग सामाजिक (उ.प्र.)

आशुतोष अवस्थी

अध्यक्ष

श्री नारायणेश्वर वेद वेदाङ्ग सामाजिक (उ.प्र.)



परम्पराशील नाट्य

श्रीजगदीशचन्द्र माथुर, ग्राड० सी० एस्०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-४

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

विक्रय-अभिकर्ता
मोतीलाल बनारसीदास
पटना : वाराणसी : दिल्ली

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रथम संस्करण : २,०००

शकाब्द १८९१ : विक्रमाब्द २०२६ : ख्रिष्टाब्द १९६९

मूल्य : ५.५०
151-

मुद्रक :
श्रीहिमालय प्रेस
पटना-४

वक्तव्य

श्रीजगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित परम्पराशील नाट्य नामक पुस्तक पाठकों के हाथों में समर्पित करते हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। सन् १९६६ ई० में 'विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' के विनीत आग्रह पर श्रीमाथुर साहब ने भाषणमाला-योजना के अन्तर्गत तीन भाषण देने की कृपा की थी। उन्हीं भाषणों की सामग्री, नई खोज के आलोक में, परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ पुस्तकाकार छपी है। विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् श्रीमाथुर साहब की अपनी संस्था है। इस नाते हमें उनके भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और इसी नाते भाषण की सामग्री पुस्तकाकार छापकर प्रकाशित करने का भी। उनकी उदारता के प्रति कृतज्ञता शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती।

वस्तुतः, इस क्षेत्र में श्रीमाथुर साहब का यह नवीन प्रयास है, जिसे उन्होंने 'परम्पराशील नाट्य' कहा है। उसका ऐसे व्यापक एवं विश्लेषणात्मक आधार पर विवेचन इसके पूर्व नहीं हुआ था। कहे, तो श्रीमाथुर साहब ने लोक-साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग को आभिजात्य प्रदान कर दिया है। उन्होंने लोकनाट्य एवं परम्परा-शील नाट्य में पार्थक्य माना है। उनका मत है कि परम्पराशील नाट्य में जो परिमार्जन एवं अलंकृति विद्यमान है, वह इसे सामान्य लोक-साहित्य से पृथक् कर देती है। यह निश्चित है कि लक्षण-ग्रन्थों से प्रभावित रचना एक प्रकार की होती है और लक्षण-ग्रन्थों से अछूती रचना दूसरे प्रकार की। लक्षण-ग्रन्थ से अप्रभावित रचना में भी एक दूसरे से मात्रा में भिन्नता होती है। इस दृष्टि से श्रीमाथुर साहब का प्रस्तुत विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सचमुच, परम्पराशील साहित्य या लोक-साहित्य का एक समुद्र ही देश में लहरा रहा है। इसकी वाणी कुछ अटपटी हो सकती है, शब्द नपे-तुले नहीं हो सकते हैं, किन्तु इसकी मार्मिकता तथा सद्यः प्रभावित करने की क्षमता को कौन अस्वीकार कर सकता है? जिस प्रकार इस कोटि की रचनाएँ शिष्ट रचनाओं से भिन्न हैं, उसी प्रकार इनकी आलोचना-पद्धति भी भिन्न प्रकार की होगी। किसी स्थल पर कविगुरु रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है कि लोक-साहित्य का आलोचन लक्षण-ग्रन्थों की मदद से करना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार घर की कुलबधू को कटघरे में खड़ी करके जिरह कराना। श्रीमाथुर साहब की प्रस्तुत पुस्तक में परम्पराशील नाट्यों का सामान्य नाट्यों से अलग करके विवेचन हुआ है; क्योंकि वे काफी अरसे से खास परम्परा के अधीन रहकर लोक-साहित्य की प्रवहमाण धारा से अलग हो चुके हैं तथा उनकी कुछ अपनी रुढ़ियाँ या प्रणालियाँ स्थिर हो चुकी हैं।

(ख)

श्रीजगदीशचन्द्र माथुर रससिद्ध साहित्यिक और सफल नाटककार हैं। उनके पास अनुभव का भाण्डार है। उनके बारे में शायद सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने सहज जिज्ञासु बुद्धि लेकर देश के कोने-कोने का पर्यटन किया है और हमेशा अपनी आँखों और कानों को खुला रखा है। फलतः, उनके प्रस्तुत विवेचन में जो व्यापकता, गहनता और मार्मिकता आई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि श्रीमाथुर साहब की इस कृति से चिर-उपेक्षित इन साहित्य-निधियों को एक ऐसी मर्यादा प्राप्त हुई है, जिसके कारण बहुतेरे साहित्यिक जिज्ञासु इस ओर उन्मुख होंगे और उनके द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को और भी आगे बढ़ायेंगे।

जयदेव मिश्र
निदेशक

विवाह-पंचमी, सं० २०२६ वि०

प्रस्तावना

भारतीय नाट्य-सम्बन्धी जो दृष्टिकोण और सामग्री इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें बहुत कुछ नया है। यद्यपि मैंने प्राचीन भाषा-नाटक-संग्रह की भूमिका में और उससे भी पहले अपनी अंग्रेजी-पुस्तक ड्रामा इन क्लरल इण्डिया के कतिपय प्रसंगों में इनमें से कुछ विशेषताओं पर विचार किया है, तथापि बाद में पाये गये तथ्यों के साथ इनका एक स्थान पर विवेचन पहली बार इसी पुस्तक में हिन्दी-पाठकों के समक्ष उपलब्ध है।

मेरा अध्ययन एक शौक—हाँवी—की तरह मुझपर हावी हुआ। अध्ययन के दौरान, और विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में दिये गये भाषणों को पुस्तक का रूप देते समय भी कुछ नये तथ्य मेरे सामने आये, जिनसे संकेत पाकर कुछ मान्यताएँ मेरे मन में उभरीं। ये तथ्य और मान्यताएँ सागर की हिलोरों द्वारा तट पर छोड़े गये शंखों और कीड़ियों की भाँति इस पुस्तक के विवरणात्मक कलेवर के इर्द-गिर्द टिक गये हैं। कहीं उन विवरणों की सैकत-राशि में इनपर निगाह न पड़े, इसलिए प्रारम्भ में ही उल्लेख किये देता हूँ।

मेरी मान्यता है कि जो आंचलिक नाट्यविधाएँ भारतवर्ष में आजदिन प्रचलित हैं, उन्हें 'लोकनाट्य' का नाम देना सही नहीं है। उनका साहित्य और उनकी प्रस्तुतीकरण-पद्धतियाँ लोककला की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित और अलंकृत हैं। रंगमंच और नाटक के अन्य रूपों से इनका पार्थक्य इनके परम्परानुगामी (ट्रेडिशनल) होने में है। अतः, मैंने इन्हें 'परम्पराशील नाट्य' मानकर इनका अध्ययन किया है।

यद्यपि जनसाधारण के बीच नाना प्रकार के नाट्य-प्रदर्शन आदिकाल से और संस्कृत-नाट्य के गौरवकाल में भी होते रहे थे, तथापि रासलीला, अंकिया नाट, जात्रा, भागवतमेल, सांग इत्यादि वर्तमान लोकप्रिय शैलियों का उद्भव और विकास संस्कृत (क्लासिकल)-नाट्य के ह्रासकाल में एक ऐसी नृत्य-संगीत-संवाद की मिश्रित शैली से हुआ, जिसका लक्षणकारों ने तो उल्लेख नहीं किया है, लेकिन जिसके लिए नाटककारों एवं अन्य लेखकों ने 'संगीतक' शब्द का व्यवहार किया है।

संस्कृतेतर भाषाओं में संगीतकों का उद्भव, लगभग एक हजार वर्ष हुए प्रारम्भ हुआ, और इनके विकास की धारा प्रायः दक्षिण के क्षेत्रों से उत्तर की ओर आई। इस प्रक्रिया का नाता भक्ति-सम्प्रदाय से विशेषतः रहा है, जो स्वयं दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ा। जयदेव के गीतगोविन्द की शैली ने संगीतक को देशव्यापी प्रदर्शन-विधा के रूप में स्थापित किया। केरल के कुलशेखरवर्मन्, मिथिला-नेपाल के हरसिंहदेव, असम के शंकरदेव, ब्रज के नारायण भट्ट, बंग के रूपगोस्वामिन्, आन्ध्र के सिद्धेन्द्रयोगी और तंजोर के रघुनाथ नायक भाषा-नाट्य के मुख्य प्रवर्तक माने जा सकते हैं।

भाषा-नाट्य के विकास को पिछले एक हजार वर्षों में चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है—पहला, राजदरबार-केन्द्रित, संस्कृत और भाषा-मिश्रित नाटकों का युग : लगभग १००० ई० से १५०० ई० तक; दूसरा भक्तिप्रधान वैष्णव नाटकों का युग : १५०० ई० से १६५० ई० तक; तीसरा आंचलिक विशेषताओं एवं लोक-संस्कृति से प्रभावित नाटकों का युग : १६५० ई० से लगभग १८०० ई० तक; और चौथा सामाजिक प्रतिक्रियाओं और परम्परा के समन्वय पर आश्रित नाटकों का युग : १८०० ई० से आज पर्यन्त। सामाजिक चेतना, राजनीतिक परिस्थिति और अभिव्यञ्जना-शैली के बदलते आयाम इन सभी युगों की प्रगति के प्रेरक थे।

भक्तियुगीन भाषा-नाटकों के रचयिताओं ने रंगशाला और नाट्य को जनसाधारण के बीच भागवत धर्म के सन्देश का माध्यम बनाया। ऐसा करने के लिए उन्होंने एक विशेष सम्प्रेषण-पद्धति (कम्युनिकेशन टेक्नीक) का इस्तेमाल किया। इस सम्प्रेषण-पद्धति का आधार था रस-प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष, जिसमें भावविह्वलता और पुनरुक्ति इत्यादि के फलस्वरूप अहं के अस्थायी लोप की मनोदशा में आध्यात्मिक सन्देश को प्रेक्षक आसानी से ग्रहण कर सकता था। इस सम्प्रेषण-पद्धति का अन्य परम्पराशील विधाओं पर भी प्रभाव पड़ा।

यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में सभी नाट्य को सोद्देश्य एवं धर्म और नीति के सन्देश का वाहक माना गया है, तथापि संस्कृत-नाटककारों ने प्रायः इस कर्तव्य को निवाहने का प्रयास नहीं किया। परम्पराशील भाषा-नाटकों ही में भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-उद्देश्य को सार्थक करने की चेष्टा की गई। अतः, परम्पराशील नाट्य ही 'पंचम वेद' कहलाये जाने के अधिकारी हैं।

मैंने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के निमन्त्रण पर ये भाषण फरवरी, सन् १९६६ ई० में दिये थे। पुस्तक का रूप देते समय मैंने तीन प्रकार की नवीन सामग्री मूल पाण्डुलिपि में सम्मिलित कर दी है : एक तो परम्पराशील नाट्य के इतिहास का यथासम्भव क्रमबद्ध व्योरा; दूसरे, वैष्णव नाटककारों की रसान्वयी सम्प्रेषण-पद्धति का विवेचन और तीसरे, परम्पराशील नाट्य-साहित्य (लिखित और मौखिक) के कुछ नमूने। इन नमूनों में कुछ, जैसे मेलातूर का भागवतमेल, शायद पहली बार हिन्दी-पाठकों के सामने आये हैं।

मूल भाषणमाला में, इस भाँति, अनेक वाद में चुने गये सुमन गुंथ गये हैं। मुझे आशा है कि यों पुस्तक की उपयोगिता तो बढ़ी ही है, उसकी रोचकता में भी कमी नहीं हुई है।

ग्रन्थ की एक विशेषता की ओर पाठकों का ध्यान और दिलाना चाहूँगा। प्रायः भारत के विभिन्न अंचलों में प्रचलित संगीत, शिल्प, नाट्य एवं अन्य सांस्कृतिक विधाओं का प्रादेशिक क्रम में ही विवरण पुस्तकों और लेखों में होता रहा है। उनका अखिल-भारतीय दृष्टि से विश्लेषण नहीं हो सका है। यह मेरा सौभाग्य रहा कि अपने देश

के अनेक भागों में जाकर वहाँ के परम्पराशील नाट्य को देखने और उनका अध्ययन करने के अवसर मुझे मिलते रहे। परिणाम यह हुआ कि मेरा दृष्टिकोण एकांगी नहीं रह सका। किसी नाट्य-प्रदर्शन को मैं देखता, तो तुरन्त उसके विभिन्न अंगों की तुलना मैं अन्यत्र देखे हुए प्रदर्शनों के अंगों से करने लगता। शब्दशास्त्री जैसे पर्यायों की खोज करते हैं, वैसे ही मैं भारतवर्ष की विभिन्न प्रांचलिक नाट्य-शैलियों में साम्यों की खोज करता रहता हूँ। अतः, इस ग्रन्थ में प्रादेशिक क्रम से नाट्य-विधाओं का विवरण न करके मैंने सामान्य विशेषताओं के वर्गों में सामग्री जुटाई है। मैं इसे अपनी विशेष उपलब्धि मानता हूँ। मेरे संस्कार ऐसे बन गये हैं कि अपने देश की विविधताओं के मूल एवं अभिव्यक्ति में मुझे सहज ही साम्य की प्रतीति हो जाती है। यह ग्रन्थ मेरे इन्हीं संस्कारों का प्रतीक है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिपद् से मेरा बहुत पुराना नाता है, आत्मीयता का नाता। परिपद् ने अनेक उपेक्षित विषयों पर ग्रन्थ-प्रकाशन और भाषणों का आयोजन कर हिन्दी के भाण्डार की अभिवृद्धि की है। मुझे भी इस यज्ञ का सहभागी बनाकर परिपद् ने मुझे जो सम्मान दिया है उसके लिए मैं उसके अधिकारियों का बहुत कृतज्ञ हूँ।

नई दिल्ली

जगदीशचन्द्र माथुर

२३ जनवरी, १९६६

विषय-क्रम

प्रथम भाग

उद्गम और विकास

१. पंचम वेद : क्या और कैसे ?	१-८
परम्पराशील नाट्य की सामान्य विशेषताएँ :	५
वहुजन-सम्प्रेषण का माध्यम :	७
२. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और संगीतक :	१०-३६
परम्पराशील नाट्य का उद्गम : संगीतक :	१०
भाषा-संगीतकों का विकास : प्रथम चरण (लगभग सन् १००० से १५०० ई० तक) :	१३
परम्पराशील नाट्य और वैष्णव सन्त : द्वितीय चरण (लगभग सन् १५०० से १६५० ई० तक) :	३१
तृतीय चरण : सन् १६५० से १८०० ई० :	३१
वर्तमान युग में परम्पराशील नाट्य (सन् १८०० ई० के बाद) :	३५

द्वितीय भाग

सामान्य विशेषताएँ

३. कथावस्तु और सामाजिक उद्देश्य :	३६-४५
प्रेमाख्यान और शौर्य-कथाएँ :	३६
पौराणिक प्रसंग और भागवत धर्म :	४१
सामाजिक प्रसंग :	४३
४. पात्राभिनय, गान, नृत्य और रस-निरूपण :	४६-६०
पात्र-परिपाटी :	४६
वाचिकाभिनय :	४७
सूत्रधार और विदूषक :	४८
नटों की परम्पराएँ और व्यवसाय :	५०
नाट्य-संगीत :	५२
नृत्य के प्रयोग :	५५
रस-निरूपण और सम्प्रेषण-पद्धति :	५७
५. रंग-व्यवस्था :	६१-६७
रंगशालाओं की स्थिति :	६१
रंगशालाओं के प्रकार और अंग :	६३
सेटिंग और मंच-व्यवस्था :	६६

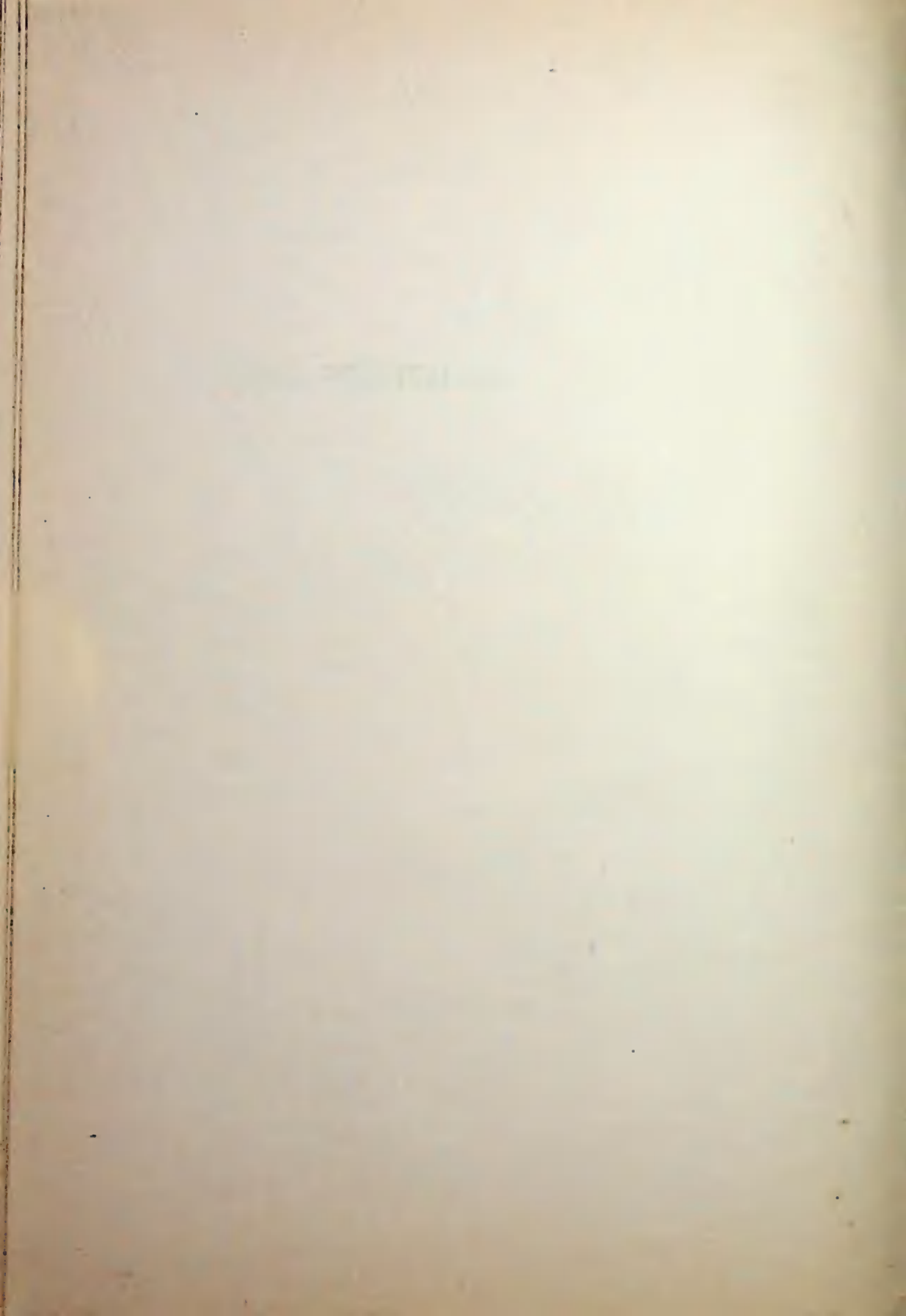
६. वेशभूषा और पूर्वरंग :	६८-७२
वेशभूषा और प्रसाधन :	६८
रुद्धियाँ और विविधता :	६९
पूर्वरंग के प्रकार :	७०
पूर्वरंग के उद्देश्य :	७२

तृतीय भाग

चयनिका

७. कुछ रंग-प्रदर्शनों की शीर्षकियाँ :	७५-८३
पीराणिक रंगशाला : कर्नाटक का 'दोड्डाता' :	७६
काश्मीर का 'भाँड़जशन' अथवा 'पन्न' :	७८
एक ईसाई रंगशाला : 'चाविट्टु नाटकम्' :	७९
वैष्णव रंगशाला : असम का 'अक्रिया नाट' :	८०
विदापत नाच : उत्तर बिहार की अल्प-परिचित प्रदर्शन-विधा :	८८
८. परम्पराशील नाट्य-साहित्य के नमूने :	८४-१३४
मेलात्तूर का भागवत मेल :	८४
उत्तरप्रदेश की नौटंकी :	८९
असम का अक्रिया नाट :	१०६
बिहार का विदेसिया :	११०
स्वप्न-लीला :	११५
जट-जटिन :	१२१
उपसंहार :	१३६-१४०
शब्दानुक्रमणी :	१४१-१४९

परम्पराशील नाट्य





रावलीला के दो दृश्य



अष्टांग योग
प्रथम
श्री गुरुदेवों के जन्मदिन समित (उ.प्र.)

[प्रथम भाग]

उद्गम और विकास

१. पंचम वेद : क्या और कैसे ?
२. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और संगीतक

114-11

पंचम वेद : क्या और कैसे ?

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए तीन बातों पर जोर दिया है । एक तो यह कि चूँकि शूद्र तथा वन्य जातियों के लोग वेद-पाठ से वंचित थे, इसलिए ऐसे वेद की आवश्यकता पड़ी, जो सभी वर्गों की जनता के लिए उपादेय हो । दूसरी बात यह कि नाट्य में ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का संग्रह किया गया । भरत की तीसरी स्थापना यह थी कि नाट्य सभी प्रकार की कलाओं, शिल्प तथा ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण पंचम वेद कहलाने योग्य है । इस विषय में नाट्यशास्त्र में एक रोचक प्रसंग है । देवताओं के कहने पर भरत मुनि ने नाट्य का विधान किया । भरत मुनि ने जब पहले नाटक 'देवासुर-संग्राम' का प्रयोग प्रस्तुत किया और उसमें दैत्यों पर देवताओं की विजय को प्रदर्शित किया, तब दैत्यों ने विघ्न करके अदृश्य शक्तियों के सहारे नटों की स्मरण-शक्ति, गति और चेष्टा को जडीभूत कर दिया । जैसे-तैसे करके इन्द्र के 'जर्जर' नामक शस्त्र-विशेष से इन विघ्नों का शमन किया गया । जब दूसरी बार प्रयोग हुआ और उसके लिए रंगशाला तैयार कर दी गई, तब प्रदर्शन के पहले ब्रह्माजी ने समझाते के तौर पर दैत्यों के नेता विरूपाक्ष को बुलाकर उससे बातचीत की और तब उन्होंने आश्वासन दिया कि नाटक केवल देवताओं या दैत्यों के लिए ही नहीं होगा, बल्कि त्रैलोक्य-भर के भावों को प्रकट करेगा तथा गृहस्थों, दैत्यों, राजाओं और ऋषियों के चरित्र को प्रदर्शित करेगा । उसमें कहीं धर्म और लोकोपदेश, कहीं क्रीड़ाएँ, कहीं धनप्राप्ति, कहीं शान्ति-प्रचार और कहीं युद्ध दिखाये जायेंगे । वह सभी प्रकार के लोगों के लिए धर्मप्रद, यशःप्रद, आयुष्प्रद, हितकर, बुद्धिविकासक और लोकोपदेशक होगा ।

यद्यपि भारतवर्ष में नाट्य का यह विविध रूप सिद्धान्ततः मान्य रहा, तथापि संस्कृत-नाटकों की परम्परा प्रायः उच्च वर्ग तथा राजकुल के लोगों का मनोरंजन करने में विशेष बलवती रही । जातिगत भेदों का पालन तो नहीं किया गया, किन्तु नाटकों का पूरी तरह से आनन्द उठाने के लिए प्रेक्षकों को सहृदय के गुण प्राप्त करने पर जोर दिया जाने लगा । सहृदय साहित्य तथा कला का मर्मज्ञ होता है और इसके लिए न केवल अभ्यास, अपितु वंशगत संस्कारों की भी आवश्यकता पड़ती है । इसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे संस्कृत-नाटक सीमित वर्ग का प्रतिबिम्ब बनता चला गया और उसे अंशतः ही पंचम वेद की संज्ञा दी जा सकती थी ।

संस्कृत-नाटक के पंचम वेद होने में दूसरी कठिनाई यह पड़ी कि उच्च वर्ग के लोगों के लिए मनोरंजन के साथ नाटक का सोद्देश्य रूप प्रस्तुत नहीं हो सकता था । इस दुविधा का निवारण संस्कृत-नाटककारों ने नाटकों के अन्त में 'भरतवाक्य' द्वारा किया । सबका कल्याण, शुभ और शान्ति का विस्तार, इन सद्बिचारों के साथ नाटक की समाप्ति होती और यही मंगलकामना नाटक का उद्देश्य समझी जाती थी । नाटक के प्रधान कलेवर

में किसी प्रकार के मत-स्थापन की गुंजायश नहीं देखी गई। शायद यही कारण है कि प्रायः संस्कृत-नाटकों में विचार-तत्त्व, अध्यात्म-विश्लेषण और जीवन-दर्शन का अभाव-सा प्रतीत होता है। दो ही अपवाद मिलते हैं। एक तो अश्वघोष के बौद्ध-धर्मावलम्बी नाटक और दूसरा कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय'। इन दोनों के बीच लगभग एक हजार वर्ष तक भास से राजशेखर तक जितने नाटककार हुए, उन्होंने प्रायः सोद्देश्य साहित्य से अपने को बरी रखा।

सर्वसाधारण का मनोरंजन और नीति तथा धर्म का उपदेश, ये दो लक्षण जो भरत ने पंचम वेद के लिए स्थिर किये थे, संस्कृत की प्रधान नाट्यधारा में प्रतिबिम्बित नहीं हुए। किन्तु, भरत मुनि के सिद्धान्त सामान्य अनुभव पर आधारित थे और उनकी अभिव्यक्ति कहीं-न-कहीं होनी ही थी। अतः, संस्कृत की प्रधान नाट्यधारा जब क्षीण होने लगी, उससे कुछ पहले ही जनसाधारण के मानस में मनोरंजन और शिक्षा से अनुप्राणित विभिन्न शैलियों का उदय होने लगा। इन शैलियों का विवेचन लक्षण-ग्रंथों में बहुत कम हुआ। लक्षणकारों की प्रवृत्ति तो यह रही थी कि रूढ़ विधाओं से विभिन्न यदि कोई नये प्रकार का नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत होता, तो वे तुरन्त उसे अपने वर्गों की संख्या में जोड़ देते। इस तरह शास्त्र-सम्मत परिवेश का अतिक्रमण नहीं हो पाता। किन्तु ११वीं और १२वीं शताब्दी तक आते-आते संस्कृत-नाट्यधारा कुछ क्षीण हो गई। राजप्रासाद उजड़ने लगे। सहृदय संरक्षकों की संख्या न्यून हो चली। अतः, लक्षणकार भी अपनी संग्रह-शक्ति खो बैठे।

ऐसी परिस्थिति में वही नाट्य-प्रदर्शन पनप सका, जो राजप्रासाद पर कम आश्रित था, मन्दिर और धर्म-स्थानों पर अधिक, जो मेलों और उत्सवों में जन-मनोरंजन करके पुष्ट हो सकता था, जो लक्षणकारों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की उपेक्षा कर सकता था और जिसमें वस्तुतः विभिन्न कलाओं का प्रयोग होता था। पंचम वेद से मेरा तात्पर्य इसी नाट्यशैली से है, जो संस्कृत-नाट्यधारा के अवनति-काल में सारे भारतवर्ष में प्रगतिशील हुई। यह नाट्य आज भी हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय हैं। आज भी इसका प्रभाव उन नाटकों से कहीं अधिक व्यापक है, जो नगरों के भव्य और उच्च वर्ग के लोगों का मनोरंजन करते हैं अथवा जिन्हें साहित्यिक नाटक कहा जाता है।

इन क्षेत्रीय और जनप्रिय नाटक-शैलियों को प्रायः लोकनाटक के नाम से आजकल सम्बोधित किया जाता है। किन्तु, लोकनाटक शब्द अंगरेजी के 'फोक ड्रामा' से उधार लिया गया है। 'ऑक्सफोर्ड कम्पेनियन ऑफ ड्रामा' के अनुसार 'फोक प्ले', यानी लोकनाटक ऐसा नाट्य-मनोरंजन है जो ग्रामीण उत्सवों पर ग्रामवासियों द्वारा स्वयं प्रस्तुत किया जाता है और प्रायः अशिष्ट और देहाती होता है। योरोप में लोक-नाटक आदिम जीवन में लोकोत्सवों में प्रारम्भ हुए थे। उनमें मृत्यु, पुनर्जन्म, तथा स्थानीय महापुरुषों के विवरण, नटों के खेल इत्यादि होते थे। इंग्लैण्ड में 'ममस प्ले' को लोकनाटक कहा जाता है।

स्पष्ट है कि भारतवर्ष की क्षेत्रीय नाट्यशैलियाँ प्रायः इस प्रकार के लोक-नाटक से कहीं ऊँचे स्तर के प्रदर्शन और साहित्य से सम्पन्न हैं। अतः, उन्हें लोकनाटक की संज्ञा देना समीचीन नहीं जान पड़ता। उनमें कई शैलियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

मेरे विचार में इन शैलियों को 'परम्पराशील नाट्य' कहना अधिक उपयुक्त होगा । यह नाट्यशैली एक लम्बी परम्परा का वर्तमान स्वरूप है । इसके रंगमंच और साहित्य दोनों ही बहुत कुछ उस विधि और सोद्देश्य कला के प्रतीक हैं, जिसका संकेत भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है और जिसका विशेष विकास मध्ययुग के संस्कृत-नाटक के अवन्ति-काल में हुआ । यही नाट्यशैली पंचम वेद की संज्ञा की अधिकारिणी जान पड़ती है । आज देश में पुनः इस पंचम वेद के प्रति जागरूकता की आवश्यकता है । हमारी नागरिक सभ्यता में पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप एकसूत्रता का समावेश हुआ । इस एकसूत्रता का धड़ राजनीतिक एकता है । किन्तु, राजनीतिक एकता अपने में यथेष्ट नहीं । सांस्कृतिक सन्तुलन लोक-जीवन की एकता का संवर्द्धन करता है । परम्परागत नाट्य में कई ऐसी विशेषताएँ हैं, जो भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों को एक दूसरे से बाँधती हैं । परम्परागत नाट्य का दूसरा महत्त्व इस बात में है कि नागरिक नाट्य की अपेक्षा वह देश की असंख्य जनता के कहीं अधिक समीप है । आज जब भारतवर्ष में जनसाधारण को देशव्यापी प्रगति में शामिल करना अभीष्ट है, ऐसी सांस्कृतिक विधाओं को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिनमें सामान्य जनता एकात्म्यता की अनुभूति कर सके । यही नहीं, सोद्देश्य नाट्य राष्ट्र-निर्माण की घड़ी में विशेष महत्ता रखता है । सोद्देश्यता नागरिक साहित्य में प्रायः अप्रासंगिक हो जाती है, जैसा संस्कृत-नाटक में हुआ और जैसा आज दिन भी हम देखते हैं । किन्तु, 'परम्पराशील नाट्य' में वही सोद्देश्यता बहुत स्वाभाविक प्रतीत होती है ।

मुझे लगभग २४ क्षेत्रीय नाट्यशैलियों की जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिल चुका है । इन में प्रमुख हैं—रासलीला, रामलीला, असम के अंकिया नाट, बिहार के कीर्तनिया नाट और विदेसिया, बंगाल की यात्रा, मध्यप्रदेश के माँच, राजस्थान के ख्याल और रम्मत, गुजरात के भवई, महाराष्ट्र का तमाशा, कर्णाटक का दोडाट्टा, आन्ध्रप्रदेश का कुचिपुडि, तमिल-नाडु का भागवत-मेल, मैसूर का यक्षगान, केरल का कूडियाट्टम और चवित्टू, हिमाचल प्रदेश का करियाला, उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पंजाब के नौटंकी और सांग तथा कश्मीर का भाण्डजशन ।

आश्चर्य है कि हमारे देश की इस विशाल और विविध सांस्कृतिक अभिव्यंजना का भली भाँति विवेचन नहीं हुआ है । लोकनृत्य में तो अभिरुचि बढ़ी है, शायद इसलिए कि लोकनृत्य में भाषा की बाधा नहीं है । शास्त्रीय नृत्य यथा भरत-नाट्य, कथक इत्यादि की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है; किन्तु यह नहीं समझा गया कि वस्तुतः शास्त्रीय नृत्य परम्परागत नाट्यशैलियों के खण्ड-मात्र हैं । उनका सही प्रयोग नाट्य-कथाओं के प्रदर्शन में ही होता था । भरत-नाट्य का वास्तविक रूप भागवत-मेल में मुखर हो पाता है ।

परम्पराशील नाट्य की सामान्य विशेषताएँ

परम्परागत नाट्य के दो पहलुओं की ओर मैंने संकेत किया । एक तो उनका देशव्यापी एकता का सूत्र होना और दूसरे उनमें जनसाधारण को संचालित और प्रेरित

करनेवाली प्रवृत्तियों की प्रधानता। ऊपर जिन क्षेत्रीय नाट्यशैलियों का जिक्र हुआ है, उनमें निम्नांकित सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं, जिनके कारण उन्हें हमारे देश की संस्कृति का सार्वभौमिक स्वरूप माना जा सकता है और विविधता में एकता का प्रतीक :

१. दक्षिण और पूर्वी भारत के परम्परागत नाट्यों में एक ही प्रकार के पौराणिक कथानकों का प्रयोग हुआ है। नृसिंहावतार, श्रीकृष्ण-लीला, रामचरित, महाभारत के दृश्य—ये कथाएँ असम से केरल तक सभी प्रकार के नाट्यों में मिलती हैं।
२. संगीत, नृत्य और संवाद तीनों ही परम्परागत नाट्यशैली के अनिवार्य अंग हैं और उनके सम्मिश्रण से ही सौन्दर्य-बोध और ज्ञान प्राप्त होते हैं।
३. यद्यपि हर क्षेत्रीय नाट्य में क्षेत्र की प्रमुख भाषा का प्रयोग हुआ है, तथापि लगभग सभी में सुसंस्कृत तथा ग्रामीण भाषाओं का विचित्र संयोग दीख पड़ता है। प्रेक्षक को एक साथ ही उच्च कोटि की साहित्यिकता तथा ग्रामीण स्वच्छन्दता का अनुभव होता है।
४. इन नाट्यशैलियों में जो संगीत प्रयुक्त हुआ है, वह रागानुबद्ध होता है, यद्यपि एक ही नाम से रागों के विभिन्न स्वर-विधान मिलते हैं। आश्चर्य यह है कि कर्णाटक और दक्षिण भारत में प्रचलित कुछ रागों की प्रतिध्वनि उत्तर बिहार और असम के नाट्य रागों में मिलती है। देशी और मार्गी दोनों प्रकार के राग क्षेत्रीय नाटकों में प्रायः पाये जाते हैं।
५. वेशभूषा में भी बहुत कुछ साम्य दीख पड़ता है। लम्बे अंगवस्त्र कश्मीर में भी हैं और तमिलनाडु में भी। मुखांटे तो देश-भर में व्यवहृत होते हैं।
६. इन नाटकों में संवाद (विशेषतः पश्चिमी प्रदेशों में) प्रश्नोत्तर-पद्धति का उपयोग करते हैं। यह पद्धति वेदकालीन साहित्य से महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद तथा विविध बौद्ध और जैन साहित्य तक में प्रवाहित होती हुई प्रादेशिक नाट्यों में परिपुष्ट हुई है।
७. लगभग प्रत्येक परम्पराशील नाट्य में प्रारम्भिक अंश, जिसे भरत-नाट्य-शास्त्र में पूर्वरंग कहा गया है, विशेष महत्त्व रखता है। वस्तुतः, पूर्वरंग इन नाट्यों का सबसे व्यापक चिह्न है।
८. लगभग सभी परम्परागत नाट्यों में सूत्रधार केवल प्रारम्भ में ही नहीं, बराबर किसी-न-किसी रूप में मौजूद रहता है। सूत्रधार नाटक की कथा को अग्रसर करता है और दर्शकों एवं कथा के बीच कड़ी का काम करता है। प्रायः सूत्रधार के साथ-साथ विदूषक भी किसी न किसी नाम से इनमें से अधिकतर नाट्यों में विद्यमान है।
९. परम्परागत मंच की यह विशेषता है कि इसमें अभिनय रुढ़िगत होता है। मुद्राओं का प्रयोग भाषा को स्पष्ट करने के लिए होता है और बोली विशेष स्वराघात के अनुसार होती है।

ये सभी विशेषताएँ परम्परागत प्रादेशिक नाट्यों को एक सूत्र में बाँधती हैं और इस तरह सारे भारतवर्ष के एक रंगमंच का बोध होता है। उसी प्रकार इस रंगशाला का सम्पर्क जनसाधारण के जीवन से भी बहुत निकट का है। इस बात की पुष्टि निम्नांकित विशेषताओं से होती है—

१. ये सब प्रदर्शन थोड़े ही खर्च में किये जा सकते हैं और निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति का ऐसा मनोरंजन हो पाता है, जिसमें संगीत भी है, नृत्य भी, और संवाद भी।
२. यद्यपि ये सब शैलियाँ परम्परागत हैं, तथापि बदलते युग के अनुसार समस्याओं का समावेश इन नाट्यों में होता चलता है। सांग, नोटकी और कूडियाट्टम में कथानकों अथवा प्रसंगों द्वारा समसामयिक जीवन पर प्रकाश डाला जाता है।
३. लगभग सभी नाट्यों से जनसाधारण को जीवन की नीतिशिक्षा मिलती है। कोई भी ऐसा अवसर खोया नहीं जाता, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा की ओर प्रेक्षकों का ध्यान खींचा जा सके।
४. यद्यपि पौराणिक नाट्यों में अनेक अवतारी पुरुषों का चरित्र प्रदर्शित होता है, तथापि अनेक प्रादेशिक नाट्य साधारण कुल में पैदा हुए नायकों को प्रस्तुत करते हैं। राजस्थान के ख्याल में तेजाजी का चरित्र इसकी पुष्टि करता है।
५. नाट्यों में सामाजिक जीवन पर छींटाकशी की जाती है और जनसाधारण के उग्र व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है। हिमाचल के 'करियाला' और कश्मीर के 'भाण्डजशन' में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे।
६. पौराणिक गाथाओं के अतिरिक्त इन नाट्यों में प्रेमाख्यानों का प्रचुर स्थान है। प्रेम का जो स्वरूप इन नाट्यों में मिलता है, वह स्वच्छन्द इन्द्रिय-सुखबोधक और निर्बाध है।
७. इन नाट्यों के प्रदर्शन में प्रेक्षक और नट दोनों का निकट सम्बन्ध होता है और प्रायः दर्शक भी प्रदर्शन में हिस्सा लेते हैं। प्रेक्षकों और नाट्य के बीच में यह तारतम्य नागरिक जीवन के लिए एक अनूठी वस्तु है।

बहुजन-सम्पर्क का माध्यम

परम्पराशील नाट्य में भरत के मूल उद्देश्य की पूर्ति हुई, यानी, सार्वभौमिक भावों की अभिव्यक्ति, सभी वर्गों के लोगों के चरित्र का प्रदर्शन तथा सर्वसाधारण के हित, सुख और उपदेश का संबर्द्धन। बुद्ध का वचन बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय परम्पराशील नाट्य पर निस्सन्देह लागू होता है। संस्कृत नाट्य इस उद्देश्य की ओर जागरूक होते हुए भी उसे पूरा करने में इसलिए असमर्थ रहा कि उसकी पद्धति उद्देश्य के अनुरूप न रह सकी। बात यह है कि जिस समय किसी उद्देश्य-विशेष का निरूपण किया जाता है,

उस समय जो पद्धति और साधन उसकी पूर्ति के लिए यथेष्ट समझे जाते हैं, यह जरूरी नहीं कि बाद के युग में भी वही पद्धति और साधन सार्थक रहें। परम्पराशील नाट्य की परम्पराएँ बदलती रही हैं। यह लिखित शास्त्र से बंधा नहीं रहा। अतः, सार्वभौमिक भावों की अभिव्यक्ति, विभिन्न वर्गों के चरित्रों के प्रदर्शन और लोकोपदेश के निरूपण के लिए यह नाट्य बहुजन-सम्प्रेषण, यानी 'मास कम्युनिकेशन' का माध्यम बन गया।

बहुजन-सम्प्रेषण का सिद्धान्त आधुनिक समाज-विज्ञान की देन है। किन्तु, अनेक युगों में अनेक प्रकार के बहुजन-सम्प्रेषण-साधनों (मीडिया और मास कम्युनिकेशन) का व्यवहार होता रहा है। भारतवर्ष में पिछले एक हजार वर्षों में विकसित परम्पराशील आंचलिक नाट्य शैलियाँ बहुजन-सम्प्रेषण-माध्यम के विशिष्ट उदाहरण हैं। वर्तमान युग के बहुजन-सम्प्रेषण उपकरणों से भारतीय परम्पराशील नाट्य दो दिशाओं में कुछ पृथक् है। एक तो यह कि उसमें अभिनय, नृत्य, संगीत और संवाद के यथावश्यक सम्मिश्रण द्वारा प्रेक्षकों में रसानुभूति का बीजारोपण किया जाता है, जबकि आधुनिक माध्यमों में रस-निष्पत्ति नहीं, बल्कि चमत्कार की प्रधानता है और शील की व्यक्तिगत विशेषताओं (इण्डिविजुएलिटी और कैरेक्टर) पर अधिक जोर दिया जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि परम्पराशील नाट्य मानवमात्र के लिए व्यवहार के मानदण्ड और चिन्तन तथा अभिव्यक्ति के औचित्य की ओर संकेत करता है, जबकि आधुनिक बहुजन-सम्प्रेषण नीतिपरकता से आच्छन्न नहीं हो सकता। विघटित मूल्यों के युग में नैतिक आदर्श अमूर्त ही नहीं, कृत्रिम प्रतीत होते हैं।

कदाचित् इसी अन्तर के कारण परम्पराशील नाट्य बहुजन-सम्प्रेषण के स्तर से उठकर पंचम वेद की श्रेणी में आ जाता है। लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित इन विधाओं को चतुर्वेद की प्रतिष्ठा भले ही नहीं मिली, प्रभुविष्णुता और आदर्शों के प्रति लगाव इनमें चतुर्वेद से कम नहीं है। इनके विकास की कहानी भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का एक उपेक्षित अध्याय है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और संगीतक

परम्पराशील प्रादेशिक नाट्य के जो रूप आजकल देश में प्रचलित हैं, वे लक्षण-ग्रन्थों में दिये गये रूपकों और उपरूपकों के किसी वर्ग-विशेष से मेल नहीं खाते। कीथ ने अपने संस्कृत-नाट्य के इतिहास ('द संस्कृत ड्रामा') में 'इरेंगुलर प्लेज' यानी वर्गातीत नाटकों का जिक्र किया है। भारत में शास्त्रनिर्माताओं का तरीका यह रहा है कि ज्यों ही कोई रचना विहित परिपाटी से अलग प्रतीत हुई, त्यों ही उसके लिए कोई नया नाम और वर्ग प्रस्तुत कर दिया गया। भरत के बाद अभिनवगुप्त, धनंजय, सागरनन्दी, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय, नन्दिकेश्वर इत्यादि विद्वानों ने इसी भाँति उपरूपकों की संख्या में अभिवृद्धि की। वर्तमान प्रादेशिक भाषा-नाट्य की कुछ विशेषताएँ इन उपरूपकों में मिलती हैं, किन्तु किसी एक उपरूपक को वर्तमान आंचलिक नाट्य का उद्गम नहीं माना जा सकता। 'उल्लाप्य' नामक उपरूपक में अंक एक ही कहा गया है, विषयवस्तु पौराणिक और संवाद में गीतों की बहुलताएँ मानी गई हैं। रासक में विनोद का प्राधान्य, उच्च कुल का मूर्ख नायक, उच्च कुल की विदुषी नायिका, एक अंक और पाँच पात्र बताये गये हैं। 'श्रीगदित' नामक उपरूपक में संवाद अंशतः गाया जाता है और शेष वाजित होता है। हल्लीस में भी एक अंक और संगीत तथा नृत्य का बराबर प्रदर्शन होना चाहिए।

इन उपरूपकों के उदाहरण लिखित रूप में अप्राप्य हैं। इसलिए यह कहना कठिन है कि कहाँ तक प्रादेशिक परम्पराशील नाट्य की रूपरेखा इन लक्षणों पर आधारित है। कुछ प्रादेशिक नाटकों के नाम कतिपय रूपकों के वर्गों से मिलते-जुलते हैं, किन्तु लक्षणों में साम्य नहीं है। उदाहरणतः, कश्मीर का 'भांडजन्' संस्कृत-रूपक भाण की याद दिलाता है। किन्तु, कश्मीरी भांड बहुपात्री और गीत तथा नृत्यों से भरपूर नाट्य है, जबकि संस्कृत-भाण एकपात्री गद्य-प्रधान विधा है, जिसमें पात्र नेपथ्य की ओर उन्मुख होकर विभिन्न कल्पित पात्रों से वार्त्तालाप करता है। संस्कृत-भाण और आगरा एवं लखनऊ के नवाबी जमाने के भांड-प्रदर्शनों में बहुत कुछ साम्य है, दोनों के कलाकार प्रत्युत्पन्नमति और विनोदशील होते हैं, किन्तु आगरा-लखनऊ के भांड उस नेपथ्य-शैली का अनुसरण नहीं करते, जो चतुर्भाषी की विशेषता है। आन्ध्र के भागवत-मेल-नृत्य-गीत-नाट्य को 'वीथिनाटकम्' भी कहा जाता है। 'वीथी' रूपकों का एक प्रकार भी है, जिसमें एक अंक और दो पात्रों तथा परिहास, व्यंग्य, श्लेष इत्यादि का विधान है और इसलिए दोनों की शैली भिन्न ही मानी जायगी। असम के मठों में प्रस्तुत किये जानेवाले 'अंकिया नाट' का नाम रूपकों के एक विभेद 'अंक' से मिलता है, किन्तु दोनों एक नहीं हैं; क्योंकि संस्कृत अंक में कर्णरस प्रधान होता है, अंकिया-नाट में अनेक रसों की परिस्थितियाँ दिखाई गई हैं, और गीत एवं नृत्य की बहुलता तो है ही।

तब वे कौन परम्पराएँ थीं, जिनके आधार पर वर्तमान आंचलिक नाट्य और रंगमंच को परम्पराशील माना जाय? मेरी धारणा है कि इन परम्पराओं का विकास मध्ययुग

में हुआ और पिछले लगभग पाँच सौ वर्षों से यह धारा अपने विभिन्न रूपों में देश के विभिन्न भागों में प्रवाहित होती रही है, क्षेत्रीय वर्ण और स्वरों को ग्रहण करते हुए भी इन नाट्य-शैलियों में कतिपय सामान्य विशेषताएँ हैं, जो मध्ययुग की देशव्यापी परिस्थितियों में प्रकट हुईं। आगे मैं उनका उल्लेख करूँगा। किन्तु, उसके पूर्व मैं एक ऐसी प्रदर्शन-शैली का जिक्र करना चाहता हूँ, जो संस्कृत-नाट्य के मध्याह्न में ही प्रकट हो गई थी, किन्तु परवर्ती लक्षणकारों ने जिसकी उपेक्षा की है। इस विधा का नाम है 'संगीतक'। मेरा विचार है कि 'संगीतक' ही वर्तमान आंचलिक नाट्य-शैलियों का मूल है, और यद्यपि उत्तर भारत में 'सांग' और 'सांगीत' नामों से प्रचलित ग्रामीण नाटकों में ही 'संगीतक' नाम की प्रतिध्वनि रह गई है, तथापि अन्य नामों से भी अभिहित नाट्य-शैलियाँ यथा जात्रा, माँच, रासलीला, भागवत-मेल, तमाशा, कूटियाट्टम इत्यादि—सभी 'संगीतक' के परवर्ती स्वरूप हैं।

परम्पराशील नाट्य का उद्गम : संगीतक

पहले 'संगीतक' शब्द के प्रयोग पर विचार कर लिया जाय। 'संगीतक' और 'संगीत' में अन्तर है। संगीत शब्द प्रायः वाद्यसहित वृन्दगान के लिए प्रयुक्त हुआ है। रघुवंश में 'सङ्गीतमृदङ्गघोष' (१३।१८०) और मेघदूत में 'सङ्गीताय प्रहतभुरजा' (उत्तरमेघ, १) ये उल्लेख मिलते हैं। भागवतकार ने भी गन्धर्वों द्वारा सुकण्ठ से संगीत के गाने का उल्लेख किया है—'जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतसहभर्तृकाः' (भागवत, १०।८४।४६)। किन्तु, संगीतक में सहगान और सहवाद्य-वादन के अतिरिक्त नृत्य, गीत, संवाद ये सभी तत्त्व मिलते हैं और जब रंगशाला में प्रेक्षकों के सम्मुख इनका प्रदर्शन हो, तभी उन्हें संगीतक कहा गया है। संगीत तो प्रेक्षागृह के अतिरिक्त भी प्रस्तुत होता था, किन्तु संगीतक के लिए रंगशाला में प्रदर्शन अनिवार्य था।

अभिनय में संगीत के समावेश का संकेत तो नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में ही मिलता है। महादेव ने भरतमुनि द्वारा प्रस्तुत 'अमृतमन्थन' देखने के पश्चात् कहा कि उसके पूर्वरंग के शुद्ध अभिनय में करण, अंगहार इत्यादि नृत्य के प्रकार और वर्द्धमानक, आसारित गीत और महागीत को जोड़ देने से यह 'चित्रसंज्ञक' अभिनय हो जायगा (भरतनाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय, १५।१६)। किन्तु, इस संकेत के बावजूद संस्कृत-नाट्य-साहित्य के गौरव-ग्रन्थों में गीत और नृत्य अल्प मात्रा में हैं, और जहाँ तक उपरूपकों का सम्बन्ध है, उनके लक्षणों में संगीत का उल्लेख होते हुए भी लिखित साहित्य में उनके उदाहरण नहीं मिल पाते। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में चार पदों से युक्त गीत दिया है और शाकुन्तल में भी। मृच्छकटिक में नेपथ्य से रेभिल द्वारा गाये गये राग का उल्लेख है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाटकों में गीत और नृत्य का आरोपण एक नई प्रवृत्ति का द्योतक था। रंगमंच के प्रोड्यूसर, यानी प्रयोक्ता ऐसे नाट्य की माँग करने लगे, जिनमें प्रदर्शन-योग्य तत्त्वों की बहुलता हो। हमें संगीतक का सर्वप्रथम उल्लेख वररुचि-कृत उभयाभिसारिका नामक भाण में मिलता है। यह भाण चतुर्भाषी-संग्रह में शामिल है

और इसका रचनाकाल शायद चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसा के आसपास हो । उभय-भित्तिारिका में सागरदत्त सेठ के पुत्र कुवेरदत्त ने बिट के पास एक सन्देश भेजा और उसने नारायणदत्ता नामक अभिनेत्री से अनवन का कारण बताते हुए कहा—‘मैंने मदनाराधन नामक संगीतक में रस के अनुसार किये गये मदनसेना के अभिनय की तारीफ की, तो नारायणदत्ता को नहीं रुची । इसीलिए वह कुपित है ।’ इस भाण में मदनाराधन के अतिरिक्त पुरन्दरविजय नामक संगीतक का भी उल्लेख है । इन अवतरणों में संगीतक के रसाभिनय का जिक्र किया गया है । रसाभिनय से ऐसे अभिनय का तात्पर्य है, जिसमें गीत की जातियों के समीचीन प्रदर्शन द्वारा नाटकीय रस का उद्रेक होता हो । कालिदास के भालविकानिम्न नाटक में ‘संगीतक’ का दो स्थलों पर उल्लेख है—‘हन्त प्रवृत्तं सङ्गीतकम्’ (मालविका० १।१।२) और ‘प्रारभ्यतां सङ्गीतकम्’ (मालविका० १।२०।२१) । बाणभट्ट की कादम्बरी में राजभवनों में संगीतकों के लिए एक अलग ‘संगीतकगृह’ नामक स्थान का उल्लेख है, जहाँ मृदुध्वनि से ठनकते हुए मृदंगों का शब्द सुनाई पड़ता था । उसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में यादवप्रकाश की वैजयन्ती में संगीतक की विशेषता का वर्णन हुआ है । पन्द्रहवीं शताब्दी में शुभंकर के ग्रन्थ संगीतदामोदर में संगीतक की व्याख्या मिलती है :

तालवाद्यानुगं गीतं नटीभिर्यत्र गीयते ।

नृत्यस्थानुगतं रङ्गं तत् सङ्गीतकमुच्यते ॥

जिस प्रदर्शन में ताल-वाद्यों के अनुसार नटियाँ गाती हैं और रंगशाला में नृत्य प्रस्तुत करती हैं, उसे ‘संगीतक’ कहा जाता है । यहाँ संगीतक के पाँच तत्त्व स्पष्ट हैं—गीत, वाद्य, नृत्य, रंगशाला और नट-नटी ।

शुभंकर द्वारा की गई व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी तक संगीतक का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो चला था और मध्ययुग में उसके ग्रहण किये जाने में एक ही कमी थी—संवाद, विशेषतः गद्य-संवाद की । इसी समय मिथिला, नेपाल और असम में भाषा-संगीतकों की रचना प्रारम्भ हुई, जिनमें इस कमी को पूरा किया गया । भाषा-संगीतकों में सबसे पुराना उमापति उपाध्याय का पारिजातहरण माना जाता है । हाल ही में ज्योतिरीश्वर ठाकुर के पूर्वपरिचित संस्कृत-प्रहसन धूर्तसमागम का भाषारूपान्तर डॉ० उमेश मिश्र और डॉ० जयकान्त मिश्र ने सम्पादित किया है, शायद यह भाषारूपान्तर भी १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिथिला के उन्हीं कर्णाटनरेश हरदेवसिंह के दरबार के लिए प्रस्तुत किया गया था, जिनके आदेश पर उमापति उपाध्याय ने पारिजातहरण लिखा । संगीतक शब्द का व्यवहार ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने भी धूर्तसमागम की संस्कृत-प्रति में किया है—‘तन् प्रेयसीमाहूय सङ्गीतकमवतरामि ।’ इसके बाद १५वीं शताब्दी में विद्यापति के गोरक्ष-विजय नामक भाषा-नाटक में भी संगीतक शब्द का स्पष्ट प्रयोग मिलता है :

भनइ विद्यापति पुरबथु आसा । मंगल करहु देव दिगवासा ।

अलमतिविस्तरेण । ततो नटीमाहूय सङ्गीतकमवतारयामि ॥

मिथिला में ज्योतिरीश्वर ठाकुर, उमापति उपाध्याय और विद्यापति और असम में शंकर-देव, माधवदेव, गोपालभूता इत्यादि ने संवाद के सहित इस प्रदर्शनमूल विद्या की कल्पना की ।

उन्होंने उसे संगीत-मात्र के प्रस्तुतीकरण के दायरे से बाहर निकालकर काव्य के प्रमुख तत्वों के लिए वाहन बनाया। यों चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में लगभग सारे भारतवर्ष में संगीतक-शैली की और कवियों और प्रयोक्ताओं का ध्यान आकृष्ट हुआ।

संगीतक-शैली की उद्भावना पूर्व-मध्ययुगीन भारतवर्ष में कतिपय सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुई। जिस समय संस्कृत-नाटक ह्रासोन्मुखी हो रहा था, उस समय चार बातों का जनता की मनोवृत्ति और कला एवं साहित्य के विधायकों पर विशेष प्रभाव पड़ा। प्रथम तो यह कि पुराणों के आधार पर भागवत धर्म के प्रति भास्था जनसाधारण के बीच बढ़ती ही गई। यह भागवत धर्म केरल से हिमाचल तक सारे देश में ठीक उन दिनों में छा गया, जिन दिनों उत्तर भारत में तीव्र गति से मुसलमानी राज्य विस्तृत हो रहा था। भागवत धर्म ने वस्तु समाज को आश्रय दिया और इस तरह मनोरंजन और साधना दोनों एक ही पथ पर आ मिले। दूसरे, इसी पूर्व-मध्ययुग में (दसवीं से सोलहवीं शताब्दी तक) देश के कुछ भागों में रंगमंच को राज्य का आश्रय मिलना कम होता चला गया और इसके फलस्वरूप मन्दिरों, धार्मिक स्थानों, मेलों इत्यादि में अनौपचारिक रूप से नाट्य-प्रदर्शन अधिकाधिक होने लगे। किन्तु, इसी युग में देश के कुछ कोनों में हिन्दू-नरेशों ने न केवल नाट्य-प्रदर्शन को आश्रय दिया, वरन् स्वयं नई नाट्य-विधाओं के विकास में नेतृत्व दिया। वस्तुतः, इन राज्यों में ही महल और मन्दिर का सम्मिलित संरक्षण पाकर संगीतकों का स्वरूप निखर सका। तीसरे, इसी युग में क्रमशः संस्कृत का ज्ञान जनसाधारण में कम होने लगा और नाट्य में प्रेवणीयता बढ़ाने के लिए देशी भाषा में गीतों का समावेश किया जाने लगा। विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक की एक विशेष पाण्डुलिपि का विद्वानों ने जिक्र किया है। इसमें कुछ अपभ्रंश-गीत दिये गये हैं। डॉ० कीथ और डॉ० हीरालाल जैन ने इन १६ पदों की भाषा के आधार पर इन्हें हेमचन्द्र के वाद और प्राकृतपंगलम् के पूर्व की रचन माना है, यानी १२वीं शताब्दी के लगभग। जान पड़ता है कि जनसाधारण के मनोरंजन और नट-नटियों की सुविधा के लिए अपभ्रंश में ये गीत रखे गये। उन दिनों अपभ्रंश में त्र्यापदों के गीत तो प्रचलित थे ही। उसी ढंग के भाषा-गीतों को संस्कृत-प्राकृत नाटकों में शामिल किया जाने लगा।

इस युग की चौथी विशेषता थी जयदेव के गीतगोविन्द की प्रस्तुतीकरण-शैली। जयदेव का गीतगोविन्द भारतवर्ष की नाट्य-परम्परा में एक लोकप्रवर्त्क काव्य के रूप में अवतीर्ण हुआ। श्रीमद्भागवत के दशम खण्ड के रास-प्रसंग को नृत्य और संगीत में सम्बद्ध करके जयदेव ने न सिर्फ दृश्य-प्रबन्ध का विकास किया, वरन् एक नूतन संवाद-पद्धति को भी प्रचलित किया, जिसमें संलाप और सूत्रधार प्रधान होते हैं। इस पद्धति में सूत्रधार को बराबर उपस्थित रहना पड़ता है : पहले सूत्रधार द्वारा मंगलाचरण तथा सूचना, उसके बाद अन्य पात्रों द्वारा ध्रुवपद-सहित संलाप। इसमें सुविधा यह थी कि जब सूत्रधार स्तुति और सूचना-बोधक श्लोकों को बोलता था तब आगे आनेवाले संलाप के लिए पात्र तैयार हो सकता था। इस अवकाश की जरूरत इसलिए भी थी कि हर कथन, गीत तथा संलाप को

गान एवं नृत्य के साथ प्रस्तुत किया जाता था। इस सुविधा के कारण केरल से असम तक, सौराष्ट्र से उत्कल तक गीतगीतविन्द मन्दिरों और राजप्रानादों में खेला जाने लगा।

भाषा-संगीतकों का विकास : प्रथम चरण

(लगभग १००० ई० से १५०० ई० तक)

केरल, मिथिला-नेपाल, असम, उड़ीसा, ब्रजमण्डल एवं आन्ध्र-कर्णाटक में अनुकूल स्थानीय परिस्थितियों और नेतृत्व के फलस्वरूप इस विधा का विकास हुआ और इन्हीं क्षेत्रों से इनका विस्तार सन्निकट भाषा-क्षेत्रों में हुआ। भाषा-संगीतकों को स्थानीय नाम दिये गये और कालान्तर में नामों और भाषाओं के पार्थक्य के कारण इन शैलियों की मूलभूत एकता ओझल हो गई। किन्तु, उत्थान के प्रथम चरण में इनके विकास की प्रवृत्तियाँ प्रायः एक-सी ही थीं। उदाहरणतः, लगभग इन सभी क्षेत्रों में भाषा-संगीतकों के उन्नायकों ने कुछ लोक-प्रचलित नृत्य और गान-शैलियों को उन संस्कृत-उपरूपकों इत्यादि पर आरोपित किया, जो शास्त्रसम्मत थे या उन संगीतकों पर, जो नागरिक और अभिजात वर्गीय जीवन में पसन्द किये जाते थे। लोकशैलियों और नागरिक शैलियों का यह सम्मिश्रण एक देशव्यापी प्रवृत्ति के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रवृत्ति का उद्भव आप-ही-आप नहीं हुआ। इसे आयोजित और रूपायित करने का श्रेय इनमें से हर क्षेत्र के कतिपय प्रतिभावान् व्यक्तियों को है, जिन्हें आज की भाषा में सांस्कृतिक नेता कहा जा सकता है। ये महापुरुष या तो काव्यरसज्ञ सन्त और धार्मिक नेता थे या सहृदय और रसिक राजा एवं राजपुरुष। दोनों ही विखरी शृंखलाओं को एकत्र करने में समर्थ थे और यथावसर उपकरण और व्यक्तियों को जुटा सकते थे।

तीसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि भाषा-संगीतकों के ये उन्नायक न केवल साहित्य में पारंगत थे, वरन् प्रदर्शन-विधाओं (रंगशाला, संगीत, नृत्य इत्यादि) में भी असाधारण रूप से कुशल थे। ये लोग संरक्षक-मात्र और सहृदय ही नहीं थे, कविकर्म से ही परिचित नहीं थे, वरन् जिन्हें आजकल 'प्रोड्यूसर'—प्रयोक्ता कहा जाता है, उनकी श्रेणी में भी शामिल थे। रसज्ञ, कवि, गायक, सूत्रधार एवं प्रयोक्ता के विविध ज्ञान और और कृतकर्म में से अनेक में जो एक साथ कुशल थे, वैसे गुणीजनों के प्रयास से जिस शैली का विकास हुआ, वह स्वभावतः बहुरंगी, प्रयोगशील और प्रेक्षागृह की बदलती आवश्यकताओं के सर्वथा अनुकूल थी। नवीन प्रयोगों को प्रेरित करने की क्षमता सन्तों अथवा राजाओं एवं राजपुरुषों को ही हो सकती थी; क्योंकि रंगशाला में प्रदर्शन के साधन वे ही लोग प्रस्तुत करा सकते थे।

भाषा-संगीतकों के उत्थान के प्रथम चरण में केरल के राजा कुलशेखरवर्मन का नाम सर्वप्रथम आता है। दसवीं शताब्दी में ही उन्होंने संस्कृत-नाटकों को जनसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने के विचार से मूल नाटकों के साथ स्थानीय भाषा में छायानुवाद रंगशाला ही में प्रस्तुत करने की परम्परा चलाई, जिसे 'कूटियाट्टम' की संज्ञा दी गई। 'कूटियाट्टम' का शाब्दिक अर्थ है मिला-जुला अभिनय और इस नाम में ही कुलशेखर-वर्मन का उद्देश्य अभिहित है। उस समय केरल के जनसाधारण में मुटियेट्टु, तीयाट्टु,

पुराट्टु, यात्रकलि इत्यादि लोक-प्रदर्शन प्रचलित थे । इनकी एक विशेषता थी, विदूषक का तत्कालीन समाज पर व्यंग्य । इन लोकविधाओं के विकास में नम्बूतिरी ब्राह्मणों का विशेष हाथ था । इधर मन्दिरों में चाक्यार नामक नटों का एकपात्री नृत्याभिनय लोकप्रिय हो चला था, जिसका विवरण सुविख्यात तमिल गौरव-ग्रन्थ 'शिलप्पधिकारम्' में भी मिलता है । चाक्यार चम्पू और भाण की शैली में अकेले ही अनेक पात्रों का अभिनय करता है एवं अनेक ग्रन्थों से पद्य और कथाएँ उद्धृत कर दर्शकों का मनोरंजन करता है । चाक्यार के एकपात्री अभिनय को 'कूत्तु' कहा जाता है ।

ऐसा जान पड़ता है कि कुलशेखरवर्मन ने लोक-प्रचलित पुराट्टु इत्यादि से विदूषक की शैली और मन्दिरों से चाक्यार की सामाजिक टिप्पणी-मूलक शैली का संस्कृत-नाट्य-प्रदर्शन के लिए उपयोग किया । उन्होंने अपने ब्राह्मण-मन्त्री तोलन को अपनी मिश्रित शैली की निर्देशन-विधियों को लिपिवद्ध करने का आदेश दिया । तोलन ने अपने ग्रन्थ 'वांग्येय-व्याख्या' में इस नई पद्धति का विवेचन किया । भरत ने नाट्य की भूमिका-स्वरूप जिस रूप में पूर्वरंग का आयोजन किया था, उसमें कुलशेखरवर्मन ने लोकनाट्य के चाक्यार और विदूषक का मिश्रण किया । यही नहीं, मूल संस्कृत-नाटक में भी चाक्यार को विदूषक की भूमिका में प्रस्तुत कर उन्होंने स्थानीय भाषा में टिप्पणी, व्याख्या एवं सामाजिक परिहास की पद्धति का संस्कृत-नाट्य-प्रदर्शन में समावेश कर दिया । 'कूटियाट्टम' में अकेला चाक्यार कई रात्रियाँ पूर्वरंग में ही गुजार देता है, और मुख्य नाटक-प्रदर्शन अन्तिम तीन रजनियों में होता है । विदूषक नाटक के प्रसंगानुसार समसामयिक सामाजिक जीवन और समस्याओं का विश्लेषण कर देता है । भास, श्रीहर्ष और स्वयं कुलशेखरवर्मन के संस्कृत-नाटकों को इस मिश्रित रूप में प्रस्तुत करने की प्रणाली तब से बराबर केरल में त्रिचूर के मन्दिरों की रंगशालाओं में चालू रही है । कुलशेखरवर्मन का 'सुभद्राघनंजय' नाटक बहुत प्रसिद्ध है । इन रंगशालाओं को 'कूथाम्बलम्' कहा जाता है । अभिनय में भरत द्वारा निर्दिष्ट आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्वती प्रकारों का यथाविधि पालन किया जाता है । हस्तमुद्राओं द्वारा संवाद के प्रत्येक पदांश का निरूपण किया जाता है । 'कूथाम्बलम्' का निर्माण भी विकृष्ट मध्यम कोटि के मण्डप के आधार पर होता है ।

इस तरह भाषा-नाटकों का आदिस्वरूप सुदूर दक्षिण में प्रकट हुआ । कुलशेखरवर्मन के इस प्रयोग की तीव्र समालोचना भी हुई और प्राचीनता के पोषक एक पण्डित ने तो 'नटांकुश' नामक ग्रन्थ इस नवीन प्रयोग के विरोध में लिखा और संस्कृत-नाटकों में इस प्रकार अप्रासंगिक भाषा-तत्त्वों के शामिल किये जाने की भर्त्सना की । विजय अन्ततः कुलशेखरवर्मन की ही रही; क्योंकि जिस प्रयोग का उन्होंने सूत्रपात किया, वह वस्तुतः एक देशव्यापी प्रवृत्ति का द्योतक था ।

आजकल जिन प्रदेशों को कर्णाटक और आन्ध्र कहा जाता है, वहाँ द्वितीय चालुक्य-वंश (लगभग ११०० ई० से १३६० ई०) के राज्यों में संस्कृत से तत्कालीन क्षेत्रीय भाषाओं के नाटकों अथवा उनके पदों के अनुवाद होने लगे थे । इसका एक प्रमाण

नागवर्मा द्वितीय (११४५ ई०) के ग्रन्थ काव्यावलोकन में मिलता है, जहाँ विक्रमोर्वशी (अंक १, श्लोक ३) तथा नागानन्द एवं मालतीमाधव से कतिपय पद्य स्थानीय भाषा- (जो अब कन्नड़ कहलाती है) में उद्धृत किये गये हैं। साथ ही, इसी युग में कुछ देश्य प्रदर्शन-शैलियों का भी कर्णाटक में विस्तार होता गया। १३वीं शताब्दी में ही नृपतुंग ने अपने कविराजमार्ग नामक ग्रन्थ में 'नालपगर्न' शैली का उल्लेख किया है, जिसे कुछ विद्वान् 'देश्य प्रकरण' का स्वरूप मानते हैं (दे० डॉ० एच्० के० रंगनाथ : दि कर्णाटक थिएटर)। १२वीं शताब्दी में यक्षगान का भी कर्णाटक में उल्लेख मिलता है, जो बाद में यक्षगान कहलाने लगा। काकतीय राजाओं ने वीर शैवमन्दिरों में विशेष मण्डपों का निर्माण कराया, जिनमें वीर शैवमत का निरूपण करनेवाले नृत्य-नाटकों का प्रदर्शन होता था (दे० 'कुचिपुडि भागवतम्' पर संगीत-नाटक-अकादमी के लिए श्रीनटराज रामकृष्ण का लेख)। ऐसा जान पड़ता है कि यही वीर शैवमताग्रही यक्षगान वाद में भागवत यक्षगानों में परिवर्तित हो गये; क्योंकि इस बीच तेजी के साथ भागवत धर्म का विस्तार हुआ। कन्नड़ कवि और विद्वान् श्री डी० आर० वेन्द्रे का अनुमान है कि १२वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी की अवधि में कर्णाटक में नृत्य-नाटकों का विशेष विकास हुआ।

कर्णाटक-आन्ध्र-क्षेत्र में इस शैली की प्रगति के साथ-साथ उत्तरी भारत के पूर्वोत्तर अंचल यानी मिथिला और नेपाल में भी इस देशव्यापी प्रवृत्ति (यानी नाट्य में भाषा का उपयोग और नृत्य-संगीत और संवाद का सम्मिलित प्रयोग) का विकास हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में चालुक्यवंशीय नरेश सोमेश्वर प्रथम और उनके पुत्र विक्रमादित्य पृष्ठ ने उत्तरी भारत पर कई आक्रमण किये और ऐसा अनुमान किया जाता है कि विक्रमादित्य ने गौड़ और मिथिला को भी आक्रान्त किया। इन चालुक्य-नरेशों के एक सामन्त थे—नान्यदेव, जिन्होंने स्वरचित भरतनाट्यशास्त्र की टीका में अपने को 'सामन्ताधिपति' और 'कर्णाटकुलभूषण' कहा है। इन्हीं नान्यदेव ने अपने चालुक्यस्वामी की छत्रच्छाया में मिथिला को हस्तगत किया और कुछ समय बाद चालुक्य-स्वामित्व से छुटकारा पाकर सन् १०६७ ई० के आसपास मिथिला में कर्णाट-वंश की स्थापना की (दे० हिस्टरी ऑफ मिथिला : उपेन्द्र ठाकुर)। इसकी राजधानी अरसे तक सिमराँव नामक स्थान में थी, जो आजकल चम्पारन जिले और नेपाल की सीमा पर पड़ता है। इस कर्णाट-वंश का राज्य लगभग २२६ वर्ष मिथिला में और उसके बाद नेपाल में रहा। इस अवधि में मिथिला-नेपाल का कर्णाटक-आन्ध्र के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध परिपुष्ट हुआ। स्वयं नान्यदेव द्वारा की गई भरतनाट्यशास्त्र की टीका में अनेक दाक्षिणात्य राग-रागिनियों का सविस्तर विवरण है। दाक्षिणात्य संस्कृति के प्रभाव और उसके साथ आदान-प्रदान के अनेक प्रमाण मिले हैं, जिनका आगे जिक्र किया जायगा।

मिथिला-नेपाल के कर्णाटवंश के सबसे प्रसिद्ध राजा थे हरसिंहदेव (अनेक विद्वान् हरसिंहदेव नाम को सही मानते हैं)। इनका समय सन् १३०७ से लगभग १३३० ई० तक माना जाता है। इनके राज्यकाल की सबसे प्रामाणिक तिथि है सन् १३२४ ई०, जब ग्यासुद्दीन तुगलक ने इनकी राजधानी पर आक्रमण किया और इन्हें नेपाल भागकर वहाँ

अपने राज्य का विस्तार करना पड़ा । यही हरसिंहदेव मिथिला-नेपाल में भाषा-संगीतकों को शैली के उन्नायक थे । हाल तक इस शैली के नाट्य-प्रदर्शन मिथिला में 'कीर्तनिया नाच' और नेपाल में 'कातिक नाच' के नामों से विदित रहे हैं ।

हरसिंहदेव का दक्षिण राज्यों से पत्र-व्यवहार और सम्पर्क रहा (जैसा चण्डेश्वर ठाकुर के राजनीतिरत्नाकर से जान पड़ता है) और मेरा अनुमान है कि कर्णाटक-आन्ध्र तथा केरल में संस्कृत-नाटकों के प्रदर्शन में भाषा-पदों अथवा टिप्पणी के आरोपण की नूतन पद्धति से वे प्रभावित हुए । हरसिंहदेव के राजदरबार की दो विभूतियों ने अपने संरक्षक के आदेश पर उत्तरी भारत के सर्वप्रथम भाषा-संगीतकों की रचना की । ये थे उमापति ठाकुर और कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर । उमापति ठाकुर का पारिजातहरणनाटक और ज्योतिरीश्वर ठाकुर का भाषाधूर्त्तसमागम दोनों कृतियाँ भारतीय नाट्य के इतिहास में युगान्तरकारी प्रयोग थे, जिनका प्रभाव भाषा-संगीतकों पर जयदेव के गीत-गोविन्द के बाद सबसे अधिक व्यापक रहा है । पारिजातहरण अबतक प्राप्त ऐसा प्रथम सम्पूर्ण नाटक है, जिसमें संस्कृत-प्राकृत-संवाद के साथ-साथ पात्र-पात्री भाषा में गीत गाते हैं और ये गीत नाटक के अभिन्न अंग हैं और मूल लेखक की ही रचना हैं । भाषा-धूर्त्तसमागम (जिसके अनुसन्धान में डॉ० जयकान्त मिश्र ने स्पृहणीय कार्य किया है) इसलिए महत्त्वपूर्ण है; कि मूल संस्कृत धूर्त्तसमागम प्रहसन के रचयिता कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने स्वयं अपने ही प्रहसन में बाद में भाषा-गीतों का आरोपण किया । अनेक गीतों में उनका नाम भी मिलता है ।

उमापति ने पारिजातहरण में जिस तरह भाषागीतों का समावेश किया, यह नाटक के इस अवतरण में लक्षित है :

श्रीकृष्णः—(बद्धांजलिः) प्रिये प्रसीद । मानिनि ।

(मालवरागे गीतम्)

अरुण पुरुष दिसि बहिल सगरि निसि गगन मगन भेल चन्दा ।

मुनि गेलि कुमुदिनि तइओ तोहर धनि मूनल मुख अरबिन्दा ॥

(एतस्मिन्नर्थे श्लोकः)

रुचिर्गलति कौमुदी शशिनि कौमुदी हीयते

वदन्ति कमलन्ततः शृणु समन्ततः कुक्कुटाः ।

पुरोदिगतिरोहिता परितिरोहितास्तारकाः

कथं तव वरोरुहे मुखसरोरुहे मुद्रणम् ॥

×

×

×

×

मानिनि ।

अबगुन परिहरि हरखि हेरु धनि मानक अबधि बिहाने ।

हिमगिरि-कूमरि चरन हृदय धरि सुमति उमापति भाने ॥

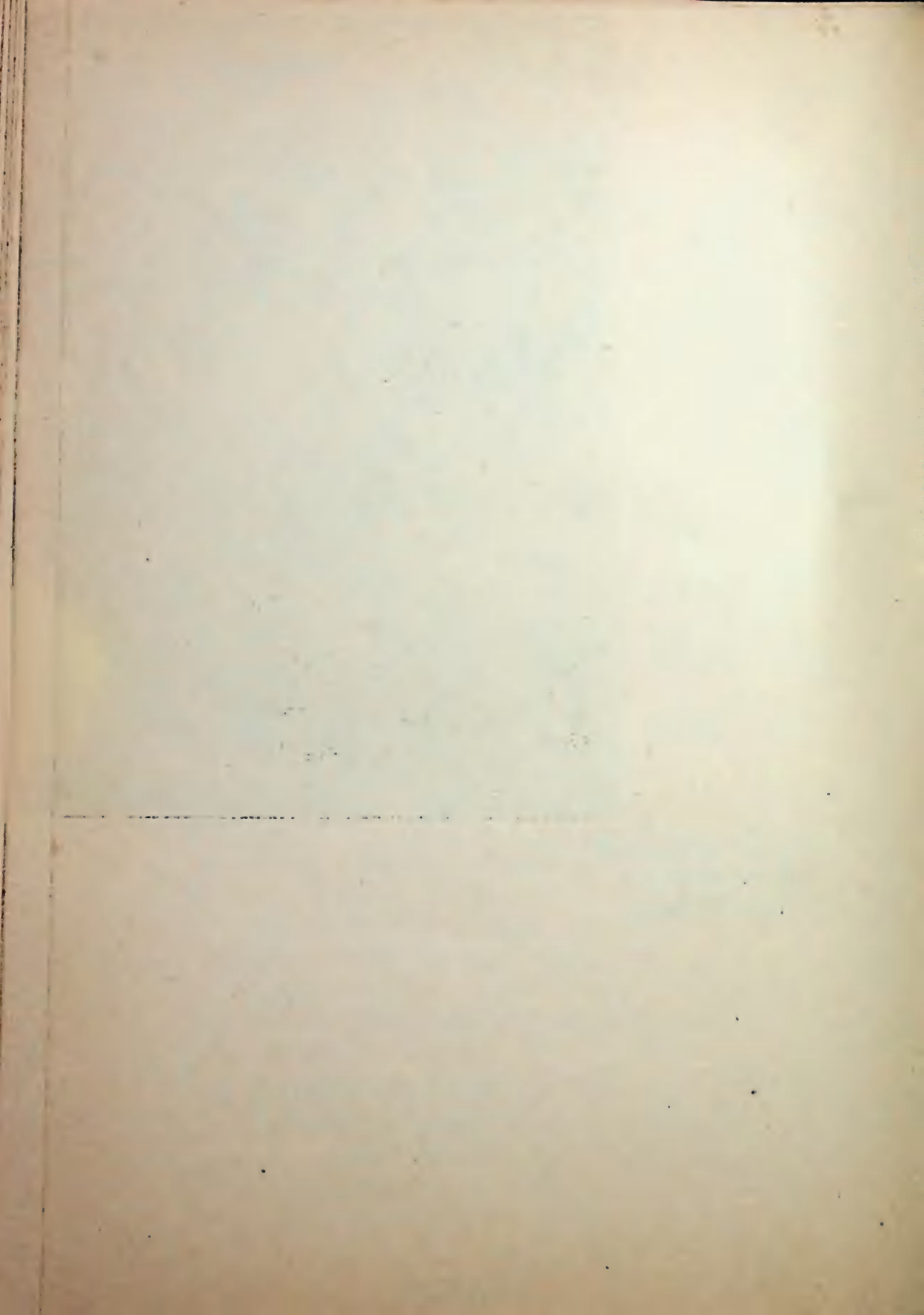
(अथवा केदाररागे गीतम्)

मानिनि मानह जउ मोर दोसे ।

सांति करह बरु न करह रोसे ॥



कुचिपुडि शैली के सिद्धहस्त कलाकार
श्रीवेदान्तम् सत्यनारायणम्
'सत्यभामा' की भूमिक में



भौंह कमान बिलोकनि बाने ।
 वेधह बिधुमुखि कय समधाने ॥
 पीन पयोधर गिरिबर साधो ।
 बाहुबास धनि धर मोहि बांधी ॥
 को परिनति भय परसनि होही ।
 भूखन चरन कमल देह मोही ॥
 सुमति उभापति भन परमाने ।
 जगमाता देइ हिन्दुपति जाने ॥

सत्यभामा—(प्रणम्योत्थाय)

(केदाररागे गीतम्)

ताहि अबसर ताहि ठाम । माधव । किए बिगरल मोरनाम ॥
 आव कि करब परकार । माधव । अपजस भरल सँसार ॥
 सबहु पाओल अवकास । माधव । जग भरि कर उपहास ॥
 कोन परि सखि समसाथ । माधव । उपर करब हम माँथ ॥
 जाहि देखि हसलहु कालि । माधव । से आव देख करतालि ॥
 परम करम मोर बाम । माधव । सकर तकर परिनाम ॥
 सुमति उभापति भान । माधव । सुपहु करब समधान ॥
 हिन्दूपति जिउ जान । माधव । महेसरि देइ बिरमान ॥

(इति मूर्च्छति)

श्रीकृष्णः—(उत्थाप्य) प्रिये समाश्वासहि ।

सत्यभामा—(आश्वास्य) अज्जउत्त आसासो विमे लज्जा अरो ।

इस अवतरण में संस्कृत-प्राकृत-संवाद में जनसाधारण के लिए रुचिकर, लयताल-पूर्ण गीतात्मकता का समावेश अप्रत्याशित रूप से परिमार्जित और स्वाभाविक प्रतीत होता है और विश्वास नहीं होता कि यह इस प्रकार का प्रथम प्रयोग था ।

ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'भाषाधूर्तसमागम' में इस शैली की सन्धिकालीन प्रयोगात्मकता का अधिक आभास होता है; क्योंकि कवि ने अपनी ही मूल संस्कृत-प्राकृत-रचना में भाषागीतों का समावेश किया है :

असज्जाति : — (अनंगसेनामानीय स्वसन्निधावुपवेश्य तदीयकरे हृदयं निधाय सप्रमोदम्)

विकचकमलकोषश्रीरियं काम्यकान्ति-

हिमकरकरजाताच्चन्द्रकान्ताद्धि शीतः ।

मृगमदघनसारामोदसौरभ्यभय्यो

हरति सदनतापं कोमलः प.णिरस्याः ॥

(क्षणं विचार्य्य पुनरुच्चैर्विहस्य)

भो वादिनावेतद्राज्यक्षेत्रे भूतंयोरिव युवयोर्विवादः । तथा हि—

नैया त्वदीया भवतोपि नैयं
मत्सन्निधिष्ठा सुभगामदीय ।
स्वप्नेपि पूर्वं मयि ज्ञातकेलि—
स्ततोपि हेतोः खलु बल्लभा मे ॥
देशाषरागे ॥ एकतालिताले ॥

तोहारे ओ नहि के सनातक भगव तोहरि नहि नारी ।
हमारेए हमरा लग अछ बैसलि परतष हलिअ विचारी ॥ ध्रुवं ॥
परुकां सपने हमे अवलोकलि हमरि तेहि के न जाने ।
हारल भगव सनातके दुहु जने तन्हि असजातिक थाने ॥
कविशेषर जोतिक एहु गावे राए हरसिंह बूझ भावे ॥

विदूषकः—(अनंगसेनामालोक्य जनान्तिकं) एसो भिस्सो बुद्धो भअवं णिद्धणो सणादगे
मिच्छारआओ ता एदाणं समागमं परिहरिअ । अम्हसमागमेण तुम्ह
योव्वणं सफलं भोदु—

(इत्यात्मानं दर्शयति)

अनंगसेना—(सस्मितं) कथं धुत्तसंगतए फलहलणं सम्बुत्तं ।
विश्वनगरः—(सर्वराग्यं) कोलावरागे । परिमच ताले ॥

अरे रे सनातक तोरिहि कुमान्ति ।
अनंगसेना हरि लेल असजाति ॥ ध्रुव ॥
कतए विचार कराओल आनि ।
जन्हिक चरित सुन मूलनाशक जानि ।
हेरित हि हरि धन लए गेल चोर ।
हाथक रतन हरायल मोर ।
कके होएवह हरि अनुरागे ।
जोकक अनाग गोतल न लागे ।
कविशेखर जोति एहु गाव ।
राय हरसिंह बूझए रस भाव ॥

विश्वनगरः—वत्स दुराचार न हि जलीकसामंगे जलीका लगति । मूलनासकस्यायं
विचारः तदेहि सुरतप्रियास्थानं गच्छावः ।

(इति निष्क्रान्तौ द्वाविति ।)

जिस भाँति केरल के कुलशेखरवर्मन ने अपने ब्राह्मण-मन्त्री तोलन को अपने मनोनुकूल
नई नाट्य-विधा का निरूपण करने के लिए आदेश दिया, उसी भाँति जान पड़ता है कि
हरसिंहदेव ने ज्योतिरीश्वर ठाकुर को रंगशाला की नवीन आवश्यकताओं और विधाओं

पर निर्देशन लिपिवद्ध करने के लिए प्रेरित किया। ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने ये निर्देशन भाषा में दिये, संस्कृत में नहीं। उनका वर्णनरत्नाकर मध्ययुगीन भाषा में तत्कालीन समाज और कलाओं का दर्पण है। वर्णनरत्नाकर के छठे कल्लोल में नटों, नटियों, विद्यावन्तों इत्यादि का जो वर्णन है, वह जान पड़ता है, उस समय के नट-नटियों, के लिए एक प्रकार का मैनुएल या निर्देश-पत्रिका है और यह स्वाभाविक ही है कि यह निर्देश-पत्रिका 'भाषा' में लिखी गई। 'धूर्त्तसमागम' की मूल संस्कृत-प्रति में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'संगीतक' शब्द का व्यवहार किया है : 'तत् प्रेयसीमाहूय संज्ञीतकमवतरामि'। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने इस प्रहसन की रचना इसे संगीतक-पद्धति में प्रदर्शित करने के लिए ही की थी।

ज्योतिरीश्वर ठाकुर और उमापति की रचनाओं का कितना व्यापक प्रभाव पड़ा, इसका एक प्रमाण यह है कि दक्षिण में धूर्त्तसमागम और पारिजातहरण दोनों ही रचनाएँ लोकप्रिय हुईं। विजयनगर के नरेश नरसिंहराय (जिनका समय सन् १४७८ ई० के आसपास माना जाता है) के दरबार में धूर्त्तसमागम का अभिनय हुआ था, यद्यपि यह ज्ञात नहीं कि अभिनय मूल संस्कृत-प्रहसन का हुआ था अथवा भाषागीत-मिश्रित प्रहसन का (दे० श्रीशालेतूर का 'सोशल ऐण्ड पोलिटिकल लाइफ इन द विजयनगर एम्पायर')। विजयनगर के राजदरबारों में अवश्य ही भाषा-संगीतकों का प्रचार हुआ और विशेषतः कृष्णदेवराय के राज्यकाल में इस शैली को प्रोत्साहन मिला। किन्तु, ऐसा जान पड़ता है कि दक्षिण के राजदरबारों में इस शैली के प्रचार के बावजूद इसे प्रयोक्ता की प्रदर्शन-विधा ही माना जाता था। नाट्यकारों ने इस तरह की रचनाएँ प्रस्तुत करना शुरू नहीं किया था (दे० श्रीकुन्दनगर का निबन्ध : 'डिवेलपमेण्ट ऑफ कन्नड़ ड्रामा' : बम्बई रॉयल एशियाटिक सोसायटी)।

मिथिला-नेपाल में ज्योतिरीश्वर ठाकुर और उमापति ठाकुर ने इस शैली को नाट्य-साहित्य का अभिन्न अंग बना दिया। वर्णनरत्नाकर निस्सन्देह रंगशाला और नाटककारों के बीच कड़ी बनी और यों मिथिला-नेपाल में जो नाट्य-परम्परा स्थापित हुई, वह १४वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के मध्य तक निरन्तर प्रवाहित होती रही। यह सिलसिला इसलिए जारी रह सका कि इस क्षेत्र में एक के बाद एक हिन्दू-राजवंश या तो स्वाधीन या दिल्ली-जौनपुर के संरक्षण में लगभग स्वाधीन रूप में कायम रहे। हरसिंहदेव के नेपाल चले जाने के बाद नेपाल में सन् १३५३ ई० से लगभग १५५६ ई० तक ओइनवर-वंश का ब्राह्मण-राजवंश रहा, जिसने कर्णाट-वंश की धरोहर को जारी ही नहीं रखा, वरन् उसे समृद्ध किया। इसी ओइनवर-वंश के संरक्षण में विद्यापति (लगभग सन् १३६० से १४४८ ई०) की प्रतिभा ने उत्तरी भारत को चमत्कृत किया और सन्धिकालीन भाषा-साहित्य को संस्कृत-साहित्य के समकक्ष ला बिठाया। विद्यापति के भाषा-नाटक गोरक्षविजय की पाण्डुलिपि स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र और उनके सुपुत्र डॉ० जयकान्त मिश्र के सत्प्रयास से हाल ही में प्रकाश में आई है (गोरक्ष-विजय नाटक : विद्यापति; अखिलभारतीय मैथिली साहित्य-समिति, तीरभुक्ति, इलाहाबाद-२)। इसमें उमापति और ज्योतिरीश्वर की पद्धति में संस्कृत-प्राकृत-संवादों के साथ

राग-रागिनी-बद्ध भाषागीतों का समावेश किया गया है । उपलब्ध पाण्डुलिपि में २५ गीत हैं । भाषा-नाट्य के इतिहास में इस नाटक की महत्ता के दो अन्य कारण हैं । एक तो विद्यापति ने इस शैली के रंग-प्रदर्शन के लिए 'संगीतक' शब्द का व्यवहार किया है । नान्दी के बाद ही सूत्रधार कहता है : 'अलमतिविस्तरेण । ततो नदीमाहूय सङ्गीतक-मवतारयामि' । स्पष्ट है कि १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यह शब्द रंगशाला के प्रेक्षकों के बीच इतना प्रचलित हो गया था कि विद्यापति ने बिना शिक्षक के उसका उल्लेख किया है । दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नाटक में दक्षिण के नटों और उनकी नृत्य-विधि को शामिल किया गया है । तेलंग देश के नट अपना साभिनय नृत्य प्रदर्शित करते हैं, गीत गाते हैं और राजा उन्हें अपने यहाँ रखना भी चाहता है । निम्नलिखित उद्धरण में (जिसके कुछ शब्द लुप्त हैं) राजा मीननाथ के विलास का वर्णन है और उसके बाद तेलंग देश के नटों का :

(राजा कामपीडितोत्पलनयनां स्पृशति कामपि पश्यति कामालिङ्गति च ।)

मालवरागे ।

कुच हास न कुसुम वास ॥
मुदित मदन तिमिर हास ।
खंजन लोचनि कमल मुखी ।
मुख देखि मने परम सुखी ॥ ध्रुवं ॥
खेल नरपति युवति संगे ।

काहु आलिंगए काहु निहार । काहु लिलोपन मलाञ्जो मार ॥
काहु बुझाव बिसेषि सिनेह । पुलके मुकुल मण्डित देह ॥
बहुल कामिनि एकल कंत । कृष्ण पति आएल सयन तंत ॥
रूपे से नागर नागर रससिगार । कौतुके गाव कविकण्ठहार ॥

(ततः अपटोक्षेणेन प्रतिहारी प्रवेशः)

(प्रतिहारी)—अहो अहो महाराओ, तेलंग ... एदौ नटे तिद्रुव । यथा आणवेदि ।

मलारी रागे ।

तेलंग देसके नट चओ तुरंग ।
नाच मे चाह माण्डि रस रंग ॥

...

दखिन देशके देखब नाञ्च ॥ ध्रुवं ॥
कह प्रतिहारी अवसर आए ।
बात जनाव भूमि सिर लाये ।
निते निते बे दिवस सुख जाए ।
नाटय लावे संसारक सार ।

भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार ॥

राजा—सत्वरं तौ नटी प्रवेशय ।

(यथाकृतवति अपटीक्षेणेन यथा निर्दिष्टौ नटी प्रविशतः ।

नटी—नृपं प्रणमतः । राजा मोत्साहं आज्ञापयति)

राजा—अरे नटी कस्मात् युवां ।

नटी कथयतः—दक्षिणदेशादागताविति ।

राजा—तर्हि नृत्य ।

(तौ तथा कुरुतः)

वरडीरागे ।

ताण्डव लास अंत भल नाचसि ।

चारिहु अंग समासे ।

ज गावसि से चित्र देखावसि ।

जे भावसि से बोले ॥ ध्रुवं ॥

तोरे गुने र.....

मलारी ॥

राजा— रहिह नटवहु हमरा सेवा ।

जे तुअ मनोरथ से हमे देवा ॥...इत्यादि ।

विद्यापति का यह नाटक सन् १४१६ ई० के आसपास रचा गया और राजा-शिवसिंह की आज्ञा से खेला गया । यह स्पष्ट है कि उस समय तक अनेक राजदरबारों में संस्कृत-प्राकृत-नाटकों में भाषागीतों का समावेश और नृत्य-गीत-बहुल प्रदर्शन की पद्धति का प्रचार यत्र-तत्र हिन्दू-राजदरबारों में हो चला था, विशेषतः मिथिला-नेपाल में प्रसूत संगीतक-शैली की सफलता के फलस्वरूप । दो अन्य क्षेत्रों में इस शैली का विकास हुआ जान पड़ता है—उत्कल और विजयनगर-राज्य । जैसा ऊपर कहा गया है, विजयनगर (आन्ध्र-कर्णाटक) में भाषा-संगीतक की कोई तत्कालीन (१६वीं शताब्दी के पहले की) रचना नहीं मिलती, यद्यपि ज्योतिरीश्वर के प्रहसन के अभिनय का उल्लेख है और विद्यापति के नाटक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस क्षेत्र से नट लोग उत्तर भारत के राजदरबारों में भाषासंगीतकों के अभिनय में हिस्सा लेते थे । किन्तु, उत्कल में हरसिंहदेव द्वारा प्रेरित शैली का एक लघु, किन्तु रोचक उदाहरण मिलता है । सन् १४३५ ई० के आसपास उत्कल-नरेश गजपति कपिलेन्द्रदेव ने अपने संस्कृत-प्राकृत परशुरामविजयव्यायोग में निम्नलिखित भाषागीत सम्मिलित किया :

राजा—देवि किमद्य रात्रौ स्वप्न उपलब्धः ?

चन्द्रवदना—अञ्ज शुणिअदु । (गीताभिनय करिवा)

गीत

अमर रागेण गीयते

केवण मुनिकुमर परशु दक्षिण कर

वामेण सोहे धनुशर ना ।

कोपेण बोलइ बीर तसु से मो बधिलु तात

आज तोर छेदिअइ माथ ना ।

शुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधे ना ॥१॥

ये तो चन्द्रनदन मेघे ढांकिला जहून

ताहा देखि विकल मो मन ना ।

आबर देखइ अरविट राज्यो तो हधिर वृष्टि

पुर बेडि रोदन्ति शृंगाल ना ।

शुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधे ना ॥ २ ॥

भाषा-संगीतकों के उत्थान के प्रथम चरण (लगभग सन् १००० से १५०० ई० तक) में हिन्दू-राजदरबारों के नेतृत्व में केरल, आन्ध्र-कर्णाटक, मिथिला-नेपाल और उत्कल—इन अंचलों में जो शैली प्रचलित हुई, उसकी विशेषताएँ तीन थीं—राजमहल का वातावरण, जयदेव के प्रभाव से नृत्यसंगीत का आकर्षक समावेश और संस्कृत-प्राकृत मूल के बीच भाषा-गीतों का आरोपण । उत्थान के द्वितीय चरण में, जो लगभग सन् १५०० से १६५० ई० तक माना जा सकता है, भाषासंगीतक न केवल अन्य अंचलों में प्रतिष्ठित हुए, उनका निजत्व भी निखरा । इस द्वितीय काल में सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि भागवत धर्म—विशेषतः वैष्णव मत—के सन्त प्रचारकों ने भाषा-संगीतकों को भगवान् की लीलाओं के प्रदर्शन तथा धर्म एवं नीति के सन्देश का माध्यम बनाया । इस युगान्तरकारी प्रयोग का सारे देश पर व्यापक प्रभाव पड़ा और आजतक परम्पराशील नाट्य के अनेक आंचलिक रूप उन महान् सन्तों की वाणी से स्पन्दित तथा उनसे प्राप्त कलाविधान से अलंकृत हैं ।

परम्पराशील नाट्य और वैष्णव सन्त : द्वितीय चरण
(लगभग सन् १५०० से १६५० ई० तक)

सन् १५०० ई० के आसपास दो परिस्थितियों के फलस्वरूप सन्तों ने भाषा-संगीतक को अपनाया । एक तो मन्दिरों में जो देवदासियाँ भगवान् के विश्व के सम्मुख और मण्डपों में पूजन-नृत्य करती थीं, उन्हें यह छूट भी मिल गई थी कि वे राजदरबार के नृत्य-संगीत-आयोजनों में भी हिस्सा ले सकें । इस छूट के कारण धार्मिक नृत्य-संगीत की पावनता कलंकित हो चली थी । आन्ध्र में इसके प्रतिक्रियास्वरूप कुछ निष्ठावान् ब्राह्मण आचार्यों ने धार्मिक विषयों पर नृत्तरूपकों को प्रस्तुत करने के लिए मण्डलियाँ बनाईं, जिन्हें बाद में नाट्यमेल या भागवत-मेल की संज्ञा दी गई । एक प्रमुख शर्त यह थी कि इन प्रदर्शनों में कोई नारी भाग नहीं ले सकती थी । इस प्रकार के भागवत-मेल का सर्वप्रथम उल्लेख सन् १५०२ ई० के आसपास भी मिलता है, जब एक भागवत-

मण्डली ने विजयनगर के बीरनरसिंहराय के सम्मुख एक अभिनय प्रस्तुत किया (दे० 'कुचिपुडी भागवतम्' पर अंगरेजी-निबन्ध : ले० श्रीनटराज रामकृष्ण, लखनऊ-नाटक-अकादमी)। उत्कल में 'गोडिपुध्र' कहलानेवाले बालकों को पाद-यात्री बनाकर मन्दिरों के बाहर संगीतनृत्याभिनय प्रदर्शित किये जाने लगे। ब्राह्मण आचार्यों ने इस आदि एक सर्वथा नवीन परम्परा स्थापित कर दी; उन्होंने रंगमंच का दृष्टिकार न बन्ने उसे स्वयं हस्तगत करने की चेष्टा की और यद्यपि मन्दिरों में होनेवाले देवदासियों के पूजन-नृत्य को वे समाप्त नहीं कर सके, तथापि उन्होंने जनता के सम्मुख एक उत्तरी ही रोचक, किन्तु कहीं अधिक संयमशील और धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत नाट्य-प्रदर्शन प्रस्तुत कर दी। इसके विपरीत पश्चिमी भारत के जैनमन्दिरों में ११वीं से १४वीं शताब्दियों में जैनरासकों में गान और नृत्य की बहुलता के कारण मन्दिरों में नैतिक पतन की आशंका से उनका प्रदर्शन बन्द कर दिया गया। शायद इसीलिए जैनमत की लोकप्रियता अवरूढ़ हो गई और रासक गेय पद्धति-मात्र रह गये (दे० राम और रासान्वयी काव्य : डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० दशरथ शर्मा)।

आन्ध्र-कर्णाटक में भागवतलु सन्तों द्वारा प्रेरित भाषा-संगीतकों को भागवतम् कह जाने लगा। विजयनगर के कृष्णदेवराय के राज्य में (लगभग सन् १५०७ से १५३० ई० तक) भागवतम्-पद्धति का विशेष उत्कर्ष हुआ और कृष्णा नदी के तट पर कुचिपुडि नामक अग्रहारम् में कुछ भक्त ब्राह्मणों ने इस शैली का विकास किया। कृष्णदेवराय के राजदरबार की रंगशाला पर भी भागवतलु सन्तों का प्रभाव पड़ा होगा। उनके दरबार में 'थयीकोण्ड' नाटक के अभिनय का विवरण मिलता है, जिनमें नगव्या नामक नट ने अपनी कला दिखाई भी। श्रीनटराज रामकृष्ण ने कृष्णदेवराय की पुत्री द्वारा रचित 'मारीचि-परिणय' नामक यक्षगान का उल्लेख किया है। निस्सन्देह, रंगशाला को धार्मिक रूप दिये जाने में आन्ध्र-कर्णाटक के सन्तों का ही प्रमुख हाथ था और ऐसा करने में उन्हें सुविधाएँ और प्रोत्साहन विजयनगर-नरेशों से मिले।

इस शैली के उत्कर्ष की दूसरी परिस्थिति यह थी कि भागवत धर्म और जयदेव के 'गीतगोविन्द' के प्रचार के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों में कतिपय सन्तों के मन में भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि और लीलास्थली ब्रजमण्डल—को देखने और उसमें बसने की लालसा जाग्रत हो गई। क्यों सन् १५०० ई० के आसपास ही ब्रजमण्डल की यात्रा का यह अभियान देश के विभिन्न भागों के सन्तों ने शुरू किया, यह इतिहास का एक रहस्य है। यद्यपि इससे ६०० या ७०० वर्ष पूर्व यानी ८वीं ९वीं शताब्दी में निम्बा-काचार्य ने ब्रज आकर वहाँ भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात किया था, तथापि उसके बाद इतने लम्बे अरसे तक बाहर से आनेवाले सन्तों की परम्परा बन्द हो गई थी हमारे विषय के लिए सन् १५०० ई० के आसपास की यात्राएँ ही विचारणीय हैं। इन सन्तों की धार्मिक यात्राओं की तिथियाँ धार्मिक प्रेरणाओं और नाट्य-प्रवृत्तियों के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती हैं। सबसे पहले सन् १४८१ ई० में अमम के महापुरुष शंकरदेव अपनी १२ वर्ष की तीर्थयात्रा पर अपने १७ साथियों के साथ निकले और मथुरा एवं

ब्रजमण्डल में शायद सन् १४६० ई० के आसपास उन्होंने प्रवास किया । (इसके साठ वर्ष बाद सन् १५५० ई० में शंकरदेव ने पुनः यात्रा सम्पन्न की और इस बार १२० भक्तों की विशाल टोली के साथ) । शंकरदेव द्वारा स्थापित वैष्णव-सम्प्रदाय 'एकसरनिया' मत के नाम से विख्यात है । शंकरदेव की यात्रा के बाद निम्नलिखित सन्तों का ब्रज में आगमन-काल, प्रवास, मत-स्थापन इत्यादि विचारणीय हैं :

उत्कल और बंग से श्रीगाधवेंद्रपुरी (महाप्रभु चैतन्य के गुरु के पुत्र) १५वीं शताब्दी के अन्तिम काल में (माधव-सम्प्रदाय) ।

आन्ध्र से श्रीवल्लभाचार्य । सन् १४६३ ई० के आसपास (पुष्टिमाग) ।

गोड़ से महाप्रभु चैतन्य देव । सन् १५२० ई० के आसपास । (महाप्रभु ने बाद में लगभग २५ वर्षों में अपने ६ प्रमुख शिष्यों को ब्रज के उद्धार के लिए भेजा, जिनमें रूपगोस्वामी का नाम इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है ।)

महाप्रभु हितहरिवंश : (वृन्दावन में) सन् १५३३ ई० (राधावल्लभ

सम्प्रदाय) ।

ओरछा से श्री हरीराम व्यास : सन् १५३४ ई० के लगभग ।

गुजरात के स्वामी हरिदास : सन् १५४३ के आसपास ।

आन्ध्र से श्रीनारायण भट्ट : सन् १५४५ ई० के लगभग ।

यों दक्षिण, पूर्व और पश्चिम से सन्तवृन्द इन पचास वर्षों में ब्रजमण्डल में पधारे और वहाँ भगवान् के स्तवन और लीलागान का अद्भुत वातावरण बन गया । ये सन्त अपने-अपने क्षेत्रों से संगीत, नृत्य और नाट्य की परम्पराओं को ब्रज में लाये और वहाँ के वातावरण में या वहाँ से प्रेरणा पाकर इन पद्धतियों को प्रयोग में लाने का अवसर उन्हें मिला । इस प्रेरणा का प्रमुख रूप, ब्रजस्थली की भाषा और ब्रजमण्डल का रास-नृत्य (या मण्डलाकार नृत्तन, जिसका मूल था हल्लीशक नृत्य) था । ब्रजमण्डल की भाषा भगवान् कृष्ण की लीलास्थली की भाषा होने का कारण तत्कालीन भागवत और वैष्णव नाटकों के लिए विशेष श्रद्धा का पात्र बनी और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में ब्रज की शब्दावली ग्रहण की गई ।

ब्रज की मूलगन्ध को बाहर से आये सन्तों ने वाणी और रूप दिये । अपने-अपने क्षेत्रों के परम्परागत अलंकरणों से उन्होंने अपनी प्रेरणा की दिव्यमूर्त को विभूषित किया । तेलंग देश से आये वल्लभाचार्य ने मथुरा में एक रास का आयोजन किया माथुर चतुर्वेदी बालकों के स्वरूप बना कर । किन्तु, वह, मण्डलाकार नृत्य का प्रयोजन था, नाट्य और अभिनय नहीं । वैष्णव सन्तों की परम्परा में भगवान् की लीला पर केन्द्रित सर्वप्रथम भाषा-नाट्य असम में, महापुरुष शंकरदेव ने सन् १५१८ ई० में लिखा, यानी अपनी ब्रजयात्रा से लौटने के २२ वर्ष पश्चात् । इसका नाम था कालियदमन-यात्रा (असम में ऐसा भी विश्वास है कि कालियदमन-यात्रा के पूर्व शंकरदेव ने चिह्नयात्रा नामक रंगप्रदर्शन का भी आयोजन किया था, किन्तु उसकी विषयवस्तु इत्यादि सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध

नहीं हैं)। कालियदमनयात्रा में सन्तों द्वारा प्रेरित भाषा-नाट्यधारा की विशेषताओं की प्रारम्भिक झाँकी मिलती है। सूत्रधार द्वारा कृष्ण के नृत्य का वर्णन देखिए :

ध्रुव : काला कानु नाचे चरन चलाइ ।

करतु कौतुक नृत्य केशव, अरुण चरण चलाय रे ।

देवमुनि सिरे सिरिख बरिखे हरिखे हरिगुन गाय रे ।

पद : काल कालिक माथे चढ़ि भाँड़ पीड़ि क्रीड़ि कानु नाचे रे ।

मृदंग दिमि दिमि नाथ दुंदुभि सिद्ध सब बाय काचे रे ।

...

...

...

“ऐसन जगतक परमगुरु नारायण श्री गोपालक भार सहि न पारि, कालि अचेत भेल । परम पीड़ात घाड़ ओलमल, नाके मुखे रुधिर छान्दे, महादुखे अन्धकार देखे, जत मद गर्व-दम्भ सर्पक सब चूर भेल । वाक्य मुखे हरल । ऐसन परम गुरुक आपद औपध पाइ, कालिक मन निर्मल भेल । नयनर नीर निझुरय, कृष्णक परम ईश्वर पुरुष मने सरन लेलइ ।”

वाद में जब कृष्ण कालिय-दमन करके बाहर आकर माता-पिता से मिलते हैं, उस समय का संवाद इस प्रकार है :

“सूत्रधार—ऐसन परकारे, कालिक दमिए, हृदहन्ते दूर करिकहु, श्रीकृष्ण कौतुके कालिन्दि तीरे आवल । देखि आनन्दे गोपिसब जय कृष्ण बलि बेइल । मुख पंकजक जैसे नयन भ्रमरे पान करैछे । नन्दजपोदा बाहुमेलि, गले बाँधि धरल । घने घने सिर सुंघि लोतके सरीर तियावल । गद्गद वाक्य बोलत ।

यशोदा—आहे पुता, कि निमिते, हृदक माझे झाम्प देलह । अः हामाक मारिते चाअल ? तोहारि सन्तापे आजु प्रान छाड़ल होइ ।

सूत्र—ओहि बूलि, मृतकपुत्रक पाइ, परमानन्दे नन्द जषोदा रहल तदनन्तर कृष्णक प्रभाव जानि, हासि हासि आसि बलभद्र आलिंगि घरल । ऐसन परकारे कृष्णक आवरि कौतुके हासिते मातिते, दिवस अवसान भेल । राति मिलल । ताहे पेखि श्रीकृष्ण बोलल ।

श्रीकृष्ण—हे माता, हे पिता, हे गोपगोपिसब, आज रात्रि ब्रज जाइते पारए नाहि । जब सबेहि भल्ल देखह, तबे स्थाते रजनी बंचह ।।”

महापुरुष शंकरदेव ने छह नाटक लिखे—कालियदमनयात्रा, पत्नीप्रसाद, केलिगोपाल, रुक्मिणीहरण, पारिजातहरण और रामविजय । उन्होंने उमापति उपाध्याय, ज्योतिरीश्वर ठाकुर और विद्यापति द्वारा प्रवर्तित भाषा-संगीतकों पर ब्रजमण्डल के भावभीनी, भक्ति-मूलक और नीतिपरक वातावरण को आरोपित किया । संगीतक में गद्य-संवादों को भी भाषा ही में निबद्ध किया, संस्कृत-प्राकृत में नहीं । जिस भाषा का व्यवहार नाट्य में

किया गया वह शुद्ध असमिया-क्षेत्र की नहीं थी, वरन् एक सार्वदेशिक भाषा थी, जिसमें मिथिला, काशी और ब्रज की तत्कालीन भाषाओं का मिश्रण था। असमिया के सुविख्यात विद्वान् स्वर्गीय चिरञ्जि कुमार वस्त्रा ने अपनी पुस्तक शंकरदेव द सेण्ट आब आसास में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि शंकरदेव ने क्यों इस प्रकार की मिश्रित भाषा का नाटकों ही में व्यवहार किया, जबकि उनकी अन्य रचनाएँ असम की स्थानीय भाषा में थीं। किन्तु, हमारे विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्हें भाषा-नाट्य की परम्परा मिथिला-नेपाल से और भक्तिमूलक नाट्य की प्रेरणा ब्रज से उपलब्ध हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी मिश्रित भाषा ही उस समय के वैष्णव-नाट्य का माध्यम बनी।

शंकरदेव प्रयोज्यता थे, अभिनय, नृत्य और संगीत के पण्डित थे, स्वयं अपने नाटकों को प्रस्तुत करते थे। उन्होंने रंगशाला को भी नया मोड़ दिया। सूत्रधार को शंकरदेव ने प्रस्तावना की सीमित परिधि से बाहर निकालकर आद्योपान्त नाटक के निर्वाहकर्त्ता तथा प्रेक्षकों के सम्बोधक का रूप दिया। इस तरह सूत्रधार के मुख से वे भक्ति और नीति के सन्देश को प्रस्तुत कर सके। शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित यह सर्वथा नवीन शैली 'अंकिया नाट' के नाम से विख्यात थी। यद्यपि उनके सभी नाटक एक अभूतपूर्व प्रयोग थे, तथापि कालियदमनयात्रा का प्रभाव बंगाल पर इतना गहरा पड़ा कि कई सौ वर्ष तक बंगाल में जात्रा नाटक को 'कालियदमन-यात्रा' नाम से पुकारा जाता रहा। (इस बात का उल्लेख डॉ० दशरथ ओझा ने 'बंगदर्शन', 'फाल्गुन', संख्या १२८६ के आधार पर अपनी पुस्तक हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास में किया है।)

शंकरदेव (सन् १४४६ से १५६८ ई० तक) के बाद उनके एकसरनिया वैष्णव-सम्प्रदाय के कुछ प्रतिभावान् सन्तों ने अनेक अंकिया नाटों की रचना की, जिनमें उनके शिष्य माधवदेव (सन् १४८६ से १५६६ ई०), गोपाल आता (लगभग सन् १५३३ से सन् १६०८ ई०), रामचरण ठाकुर (सन् १५२१ से १६०० ई०) द्विजभूषण (सन् १५०७ से १५७७ ई०) और दैत्यारि ठाकुर (लगभग सन् १५६४ से १६३२ ई०) प्रमुख थे। इनमें माधवदेव का कृतित्व इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने ही सबसे पहले कृष्ण की बाल-लीलाओं को नाट्य का विषय बनाया। ब्रज की जिन रास-लीलाओं से हम आजदिन परिचित हैं, उनकी रचनाओं से पहले ही सन् १५३८ ई० में माधवदेव ने 'अर्जुन भंजन-लीला' को भागवत, हरिवंश और बिल्बमंगलस्तोत्र के आधार पर लिखा। उसके बाद चोरधरा, भूमिलुटिया, पिम्पिर गुछुवा, और भोजनविहार—ये लघु नाट्य रचे, जिन्हें 'झुमुरा' कहा जाता है। मूल संस्कृत-श्लोकों का विस्तार कर इन रचनाओं में माधवदेव ने अद्भुत लालित्य की सृष्टि की। कृष्ण अन्य गोपियों के यहाँ दही की चोरी करते पकड़े जाते हैं, तो यशोदा उनकी भर्त्सना करती हैं :

“यशोदा—हे पुता तोहारि वाप नन्द सब गुबालक राजा। हामु ताहेर पत्नी। हामार उदरे जनमि तुहु ऐसन दुर्जन भेलि ! हामार गूहे दधि नाहि, दूध नाहि ? लवनु नाहि ? सन्देस नाहि ? कौन वस्तु नाहि ? तोहाक हामु खाइते नाहि देसि ? तुहुकि भोजन नाहि करत ? कांगाल छवाल

जैसन तुहु बेड़ान। आज तोहाक हामु सिखा देवव !”

भोजनविहार झुमुरा में यशोदा कृष्ण को प्रातःकाल इन मधुर स्वरों में जगाती है :

प्रातस समये, जसोदा जननि, मुख चुम्बित स्याम जगावन को ।

उठ मेरे लाल, मदनगोपाल, आवे तेरे गोवाल बुलावन को ।

अव रुटिया लेहु, माखन चंच पूरी, मुसुलि लेहु स्याम बजावन को ।

बृन्दावने जाहि, आनंद करि, यमुना तटे धेनु चरावन को ।

आश्चर्य की बात यह है कि झुमुरा और बाल-लीलाओं की रचना माधवदेव के अतिरिक्त असम में अन्य किसी अंकिया नाटककार ने नहीं की। इस शैली की परिणति हुई ब्रजमंडल में ही। क्या शंकरदेव की दूसरी यात्रा में ब्रज में ही उनके दल ने (जिसमें १२० व्यक्ति शामिल थे) शंकरदेव और माधवदेव के अंकिया नाटों और झुमुराओं का अभिनय किया? इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। मेरी धारणा है कि शंकरदेव और माधवदेव ने ब्रज से जो पाया, उसके आभार-प्रदर्शन के लिए अपनी रंगशाला की छवि वहाँ अवश्य दिखाई होगी। और यह भी सम्भव है कि इन झुमुराओं के प्रदर्शन का ब्रज की रासलीला पर कुछ प्रभाव पड़ा।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तत्कालीन ब्रजमण्डल देश के विभिन्न भागों से आनेवाले सन्तों की भक्ति-भावना, कल्पना और सात्त्विक उल्लास का केन्द्र हो गया था। इनमें से दो सन्तों ने ‘रासलीला’ और भाषा-संगीतकों का ब्रजमण्डल में सूत्रपात किया,—आन्ध्र (गोदावरी-तट) के ब्राह्मण नारायणभट्ट (जन्म सन् १५३१ ई०; ब्रज में आगमन सन् १५४६ ई०) और गाँड़ के रूपगोस्वामी (लगभग सन् १४७० से १५५४ ई० तक) अथवा उनके शिष्य जीव-गोस्वामिन् (सन् १५११ से १५६६ ई०)। यद्यपि रास-नृत्य का प्रदर्शन स्वयं वल्लभाचार्य ने मथुरा में किया था और बाद में बृन्दावन में हितहरिवंश और करहला ग्राम में घमण्डदेव ने, तथापि रासलीला यानी अभिनय, संवाद, नृत्य और भाषागीतों से सम्पन्न रंग-पद्धति का ब्रज में आयोजन पहले-पहल नारायणभट्ट ने ही किया। वे वरसाने के पास ऊँचाग्राम में आकर बसे, श्रीकृष्ण की लीला-स्थलियों का उन्होंने निर्धारण किया और उन लीला-स्थलियों में ही उपयुक्त अनुकरण-लीलाओं का रंग-प्रदर्शन करने का विचार किया। इसके लिए उन्होंने करहला ग्राम के ही दो भाइयों खेमकरण और उदयकरण को अपना शिष्य बनाया और वहीं के एक नर्तक (जिसका नाम वल्लभ था और जो दिल्ली में बादशाही नौकरी में रह चुका था) से नृत्यायोजन में सहायता ली। यही नहीं, उन्होंने ब्रजोत्सव-चन्द्रिका नामक अपने ग्रन्थ में लीलाओं की एक क्रमबद्ध उत्सव-माला के लिए सविस्तर निर्देश दिये। इसके अन्तर्गत निर्दिष्ट तिथियों पर विभिन्न स्थानों में लीलाओं के आयोजन के लिए आदेश दिये गये थे। यह लीलोत्सवमाला (जिसका केन्द्र वरसाना ग्राम है) आजकल ‘बूढ़ी लीला’ के नाम से विदित है और अब भी नारायणभट्ट के निर्देशानुसार ही विभिन्न स्थलों में भाद्रपद में सम्पन्न की जाती है। लीलाओं की कथाओं का नारायणभट्ट ने अपने प्रेमाङ्कुर नामक संस्कृत-नाटक में वर्णन किया; यथा जन्मलीला, दानलीला, मगरोकनी-लीला, पारस्परिक गालिदान-लीला, वनविहार-लीला, साँझी-लीला, पुष्पचयन-लीला,

निकुंजरचना-लीला, निकुंजभेद-लीला इत्यादि। (देखिए : कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह की हिन्दी-नाट्य-साहित्य और रंगमंच की सीमांसा। इन लीलाओं की विषयानुक्रमणिका गोस्वामी जानकीप्रसाद भट्ट-विरचित 'श्रीश्रीनारायणभट्टचरितामृतम्' में दी गई है।)

तात्पर्य यह है कि नारायणभट्ट के ब्रजोत्सवचन्द्रिका और प्रेमांकुर ग्रन्थों में ही वर्तमान रासलीला का आदिस्वरूप निर्धारित हुआ। जिस तरह शंकरदेव द्वारा निर्दिष्ट अंकिया नाटकी परम्परा का पालन असम के सत्रों में बराबर होता रहा, उसी भाँति नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्तित लीलोत्सवमाला को करहला और वरसाना-क्षेत्र के रासधारी आज तक अपना पुण्य-कर्तव्य मानकर निवाहते रहे हैं। बाद में रासलीलाओं का रूप तो विकसित हुआ ही, अवसर और स्थल की जो सीमाएँ नारायणभट्ट ने निर्धारित की थीं, उनके अतिरिक्त मथुरा इत्यादि नगरों में रासलीलाओं का प्रदर्शन होने लगा। मेरा अनुमान है कि इन परवर्ती रासलीलाओं की अपेक्षा नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्तित वरसाना-क्षेत्र की रासलीलाओं की शृंखला (जिन्हें इंग्लैण्ड की मध्ययुगीन 'मिस्टरी-मिरैकिल साइकल' के तुल्य माना जा सकता है) जब पुरानी हो चली, तब उसे 'बूढ़ी लीला' के नाम से पुकारा जाने लगा। मुझे वरसाने की साँकरीखोर में 'दधिभाण्डभजन-लीला' को देखने का अवसर मिला था, जो 'बूढ़ी लीला'-शृंखला की एक कड़ी है। उसमें पर्व एवं रंग-प्रदर्शन का जो विलक्षण मिश्रण है, वह अन्यत्र मैंने नहीं देखा। दो पहाड़ियों के बीच एक साँकरी घाटी है। एक पहाड़ी पर जो मण्डप बना है, उसमें श्रीकृष्ण सखाओं-सहित खड़े होते हैं, दूसरी पर राधिका गोपियों-सहित। दोनों में वात्सलाप होता है। राधिका और सखियाँ दही के मटके मस्तक पर रखकर घाटी में उतरती हैं। श्रीकृष्ण और सखा डण्डे लेकर सामने आते हैं और दान माँगते हैं। झगड़ा होता है। डण्डे से दही की मटकी फोड़ी जाती है। दही बिखर जाता है और दर्शक-समूह उसे प्रसाद-स्वरूप ग्रहण करने के लिए उमड़ पड़ते हैं। दर्शक पहाड़ियों के ढाल पर से इस लीला का प्रेक्षण करते हैं, उच्चस्वर में गाये जानेवाले गीत-संवाद सुनते हैं। एक पुराने ब्रजवासी ने मेरे शहरी लिवास और तटस्थता को लक्ष्य करके कहा कि महोदय, इस लीला का रसास्वादन करना है, तो इस वातावरण में रम जाओ। यहाँ दर्शकों और लीलाकारों में अन्तर नहीं रहता। यहाँ तो सब एक ही रस में निमग्न हैं।^१

यदि नारायणभट्ट ने पर्व और नाट्य का गठबन्धन कर रासलीला के वर्तमान स्वरूप का सूत्रपात किया, तो चैतन्यमत के दूसरे सन्त रूपगोस्वामिन् (एवं सम्भवतः उनके भी शिष्य जीवगोस्वामिन्) ने शास्त्रसम्मत नाट्य की परम्परा का वैष्णव-नाट्य में उसी भाँति प्रयोग किया, जैसे महापुरुष शंकरदेव ने असम में। गोविन्दहृलास नाटक, जिसे श्रीकुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह ने सम्पादित किया है, रूपगोस्वामी (लगभग सन् १४७० से १५५४ ई० तक) के संस्कृत-

१. नारायणभट्ट ने ब्रजोत्सवचन्द्रिका में इस लीला का विधान इन शब्दों में किया है—
“ततः भाद्रशुक्लत्रयोदश्यां प्रातःसमये साँकरी खोरिमायातौ द्वौ पर्वतोपरिस्थितां लीलां कथयन्तौ। ततस्तस्यां साँकरी खोर्यां राधागोपीभिः सार्द्धं दधिभाजनं मस्तकोपरि निधाय विष्णुनामपर्वतात्पूर्वभागतस्तवयाती। ततः श्रीकृष्णः वेत्तहस्तेन स्थित्वा दानं ययाचे। मध्याह्नपर्यन्तं लीलाकृतास्तत्पश्चाद्दधिभाण्डं भक्षत्वा दधि भक्ष्ये।”

नाटक विदग्धमाधव का भाषा-रूपान्तर है (देखिए : हिन्दी-नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा—कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह)। रूपगोस्वामी ने सन् १५१७ ई० के आसपास महाप्रभु चैतन्य के आदेश पर इस संस्कृत-नाटक की रचना की और सन् १५३२ ई० के आसपास यह पूरा हुआ। (इसका दूसरा अंश ललितमाधव के नाम से सन् १५३७ ई० में पूरा हुआ।) विदग्धमाधव का भाषा-रूपान्तर गोविन्दहुलास नाटक, जो श्रीकुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह के सदुद्योग से हाल ही में प्रकाश में आया है या तो स्वयं रूपगोस्वामी की रचना है या उनके शिष्य और भतीजे जीवगोस्वामी की, जिनका अधिकतर जीवन काशी और वृन्दावन ही में बीता (समय लगभग सन् १५११ से १५६६ ई० तक)। गोविन्दहुलास रासलीलाओं की अपेक्षा अधिक 'साहित्यिक' रचना है, एवं मिथिला-नेपाल में ज्योतिरीश्वर उमापति और विद्यापति द्वारा विकसित धारा के अधिक निकट है, यद्यपि भाषा की दृष्टि से ब्रजक्षेत्र की टकसाली भाषा के निकट है :

ताते माधव माधुरी चरित मधुर रस प्याइ ।

बिरह अटपटों चटपटों लीजों जोड जीवाइ ॥

यह अग्या मोको दई उमाकंत भगवंत ।

रिद्धि सिद्धि सब जगत गुरु पूरन करन समंत ॥

चाहे गोविन्दहुलास नाटक को स्वयं रूपगोस्वामी ने लिखा, चाहे उनके शिष्य जीवगोस्वामी ने, इसकी प्रेरणा रूपगोस्वामी की ही थी और इस भाषा-संगीतक की महत्ता इसलिए विशेषतः बढ़ जाती है कि रूपगोस्वामी ने नाटकचन्द्रिका नामक नाट्य-शास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा और गोविन्दहुलास पर उनके सिद्धान्तों की छाप स्पष्ट है। रूपगोस्वामी ने ही पहली बार दानलीला की कथा प्रवर्तित की और उसपर संस्कृत में दानकेलिकौमुदी नामक भाणिका की रचना की। उन्होंने ही कृष्ण के युवती-वेश धारण करने की तथा होली की लीलाओं का समावेश किया और जीवगोस्वामी ने भारलीला और नौकालीला का। (दे० ए हिस्टरी ऑव ब्रजबुलि : डॉ० सुकुमार सेन)। तात्पर्य यह कि एक ओर तो रूपगोस्वामी ने नाटकचन्द्रिका तथा सम्भवतः गोविन्दहुलास नाटक की रचना कर परम्पराशील नाट्य का साहित्यिक पक्ष पुष्ट किया और दूसरी ओर कृष्ण और राधा की कथा में कुछ ऐसे रोचक प्रसंगों का समावेश किया, जिन्हें ब्रज की रासलीला-रंगशाला ने सोल्लास अपना लिया। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि रूपगोस्वामी के पूर्वज भी दक्षिण (कर्णाटक) से आये थे। (दे० ए हिस्टरी ऑव ब्रजबुलि : डॉ० सुकुमार सेन)

नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्तित रासलीला का विकास अष्टछाप के कवियों द्वारा हुआ। अष्टछाप का साहित्य मुक्तक रूप में था। लेकिन इन, स्फुट पदों में लीला-प्रदर्शन के लिए प्रचुर सामग्री थी। इसीलिए, सूरदास (सन् १५५० ई० के आसपास) के पद विभिन्न बाल-लीलाओं के आधार बने, कुम्भनदास के पदों ने बिरह और दानलीला के लिए सामग्री दी, परमानन्ददास का आँखमचौनी-लीला पर प्रभाव पड़ा। नन्ददास की रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत के पदों ने महारासलीला और उद्धव-गोपी-संवाद को अलंकृत किया। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय तक सांगोपांग लीलाएँ लिखने का रिवाज नहीं था। लीलापदों को रासधारी

शृंगलाबद्ध करते थे और आशु-संवाद इन पदों को जोड़नेवाली कड़ी होते थे। कीन पद लिये जायेंगे और किस स्थान पर व्यवहृत होंगे, इसका निर्णय रासधारियों के हाथ में था।

सन् १५७० ई० के आसपास हरिराम व्यास ने पहले-पहल लीला-नाटक लिखने की पद्धति चलाई। मेरा अनुमान है कि उन्हें इसकी प्रेरणा रूपगोस्वामी के भक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ से मिली, जिसमें राधा और कृष्ण के छद्मवेश धारण करने के प्रसंग का सर्वप्रथम उल्लेख है। (दे० ए हिस्ट्री ऑफ ब्रजबुलि : डॉ० सुकुमार सेन)। हरिराम व्यास के पदों के प्रारम्भ में पात्रों के नाम नाटकीय पद्धति से दिये गये हैं और कुछ विद्वानों का विचार है कि गोरे ग्वाललीला, जिसका आधार ही छद्मवेश है, सबसे पहले हरिराम व्यास ने ही लिखी।

अकबर के राज्यकाल में (सन् १५५६ से १६०५ ई०) रासलीला का उत्कर्ष तो हुआ ही, अयोध्या और काशी में रामलीला के वर्तमान रूप का भी सूत्रपात हुआ, जिसके कर्णधार थे स्वयं गोस्वामी तुलसीदास और उनके साथी काशी के प्रसिद्ध मेघा भगत। तुलसीदास ने अयोध्या में चैत्र मास में और काशी में आश्विन मास में रामलीला की परिपाटी चलाई, किन्तु कुछ समय बाद अयोध्या की रामलीला की परम्परा समाप्त हो गई। रामलीला रंगशाला में लीलास्थलियों का वह रूप अधिक व्यापक और स्थायी हो गया, जिसे कृष्णलीला के लिए केवल नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्तित 'बूढ़ी लीला' में ही कायम रखा जा सका। यद्यपि अनेक विद्वानों ने रामलीलाएँ विभिन्न नामों से लिखीं (यथा प्राणचन्द का रामायण महानाटक और हृदयराम का हनुमन्नाटक), तथापि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के नाटकीय तत्त्व इतने महान् थे कि रामलीला का बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही रामचरितमानस के विशाल मानस में समा गये। रामलीला का प्रचार राजस्थान में भी बाद में हुआ।

इस तरह हम देखते हैं कि परम्पराशील नाट्य अथवा भाषा-संगीतकों के द्वितीय उत्थान-चरण में आन्ध्र-कर्णाटक के भागवतमेल से प्रारम्भ होकर सन्तनाट्यों की धारा उत्तर की ओर बढ़ी। ब्रजमण्डल में सन्तों के समागम के फलस्वरूप जो वातावरण उत्पन्न हुआ, उसकी सर्व-प्रथम अभिव्यक्ति असम में हुई। उसके बाद ब्रजमण्डल में रासनृत्य के प्रयोगों के उपरान्त अनुकरणात्मक लीलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। रामलीलाओं का प्रचार भी हुआ। परम्पराशील नाट्य राजमहल के वातावरण से हटकर भक्ति-भावना का पोषक एवं नीतिपरकता का समर्थक बन गया। रंगशाला में से नर्तकियों को बहिष्कृत किया गया, यद्यपि दक्षिण के मन्दिरों में देवदासियों द्वारा देवस्तुति के नृत्यों की परम्परा जारी रही। नारी-पात्रों का अभिनय किशोरों और बालकों द्वारा किया जाने लगा। सूत्रधार का दायरा बढ़ा दिया गया। वह नाटक की पूरी अवधि में रंगशाला में मौजूद रहने लगा और विभिन्न नामों से (यथा रासलीला में समाजी नाम से) प्रेक्षकों और रंगमंच के बीच सम्प्रेषण का माध्यम बन गया। ध्रुव और पद की जिस गान-पद्धति का रंगशाला में प्रयोग जयदेव ने किया था, वह परम्पराशील नाट्य का मेरुदण्ड बन गई। उत्तर और दक्षिण की राग-रागिनियों को विविध तालों में निबद्ध करके आचार्य लोग नाटकों में उनका प्रचुर उपयोग करने लगे। उत्तर भारत में इसके फलस्वरूप संगीत की एक शैली ध्रुपद नाम से ब्रजमण्डल में ही लोकप्रिय हो गई। सन्तों ने जिस नाट्य-शैली का विकास किया, वह लक्षणग्रन्थों के दायरे के बाहर थी।

अतः, कुछ सन्तों ने उसे स्थायित्व देने के लिए निर्देशन-ग्रन्थों की भी रचना की, जैसे नारायण-भट्ट के ब्रजोत्सवचन्द्रिका और प्रेमाङ्कुर तथा रूपगोस्वामी के नाटकचन्द्रिका और भस्तिरसामृत-शिन्धु। भाषा-नाट्य-साहित्य की यह प्रवृत्ति उत्थान के प्रथम चरण के द्वांग्येय व्याख्या और वर्णन-रत्नाकर जैसी रचनाओं के अनुसरण में थी।

तृतीय चरण : सन् १६५० से १८०० ई० :

उत्थान के तृतीय चरण (लगभग सन् १६५० से १८०० ई० तक) में भाषा-संगीतकों का क्षेत्रीय रूप विकसित हुआ। ज्यों-ज्यों मुगल-साम्राज्य के ओर-छोरों में हिन्दू-राज्य स्थापित होते गये, त्यों-त्यों उन राज्यों के केन्द्र-स्थानों में भाषा-संगीतकों को वहीं के वातावरण के अनुकूल विशेषताओं को गहरा करने का अवसर मिला। सुदूर दक्षिण में तंजोर और मैसूर के राज्य, पश्चिम में मराठा-राज्य, राजस्थान और बुन्देलखण्ड में छोटी-छोटी रियासतें इन आंचलिक और परम्पराशील नाट्य-शैलियों के केन्द्र बन गये। कुछ मुस्लिम-राज्य भी जो मुगल-सल्तनत के दायरे के बाहर थे, भाषा-नाट्य को प्रोत्साहन देने लगे; यथा गुजरात, मालवा और कश्मीर। यों क्षेत्रीय रंगतों के अतिरिक्त इस युग के भाषा-रंगमंच में मुसलमानी वेशभूषा तथा राजदरबार की तहजीब, परिहास इत्यादि का समावेश भी होने लगा, जिनका प्रभाव आजकल भी इन शैलियों पर दीख पड़ता है। इस युग की तीसरी विशेषता थी ध्रुव और पद की शास्त्रीय गान-शैली के साथ-साथ लोक-धुनों का भाषा-संगीतकों में प्रवेश, जिनके कारण न केवल इनकी गतिशीलता बढ़ गई, वरन् जनसाधारण से लगाव भी। चौथी विशेषता थी इस युग के परम्पराशील नाट्य की विषयवस्तु में वीरगाथाओं एवं प्रेमकथाओं का आरोपण, जिनमें से कुछ तो ऐतिहासिक व्यक्तियों के विषय में थीं और अधिकतर लोकमानस की उपज थीं।

दक्षिण में विजयनगर-साम्राज्य के ध्वंस (सन् १५६५ ई०) के बाद जो छोटे राज्य स्थापित हुए, उनमें तंजोर के नायक-वंश ने परम्पराशील रंगमंच को विशेष बढ़ावा दिया, और यक्षगान और वीथिनाटकम् उनके संरक्षण में ही एक ऐसे प्रदर्शन के रूप में पल्लवित हुए, जो उच्च और साधारण दोनों ही वर्गों के लिए प्रिय और रोचक बन सका (दे० द फोक थिएटर ऑफ आन्ध्रप्रदेश : श्री एस्० वी० जोगाराव का अंगरेजी-लेख, 'नाट्य', वर्ष ६, संख्या ४, १९६२ ई०)। १६वीं शताब्दी के अन्त में अच्युतप्पा नायक नामक तंजोर-नरेश ने तमिलनाडु के मेलातूर नामक गाँव में ५०१ भागवतुलु ब्राह्मण-परिवारों को आन्ध्र के कुचिपुडि-क्षेत्र से ला बसाया और उन्हें भागवत-पद्धति के भाषा-संगीतक प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। मेलातूर ग्राम के ये नाटक ही बाद में वीथिनाटकम् अथवा तेरूकूथु एवं भागवतमेल के नाम से विख्यात हुए। साथ ही, नायक-वंश ने पौराणिक नाटक ही नहीं, जीवनवृत्त-नाटकों एवं अन्य विधाओं का विकास किया। नायक-वंश के विजयराघव नायक (सन् १६३३ से १६७३ ई० तक) नामक नरेश ने अपने पिता रघुनाथ नायक की दिनचर्या को आधार मानकर रघुनाथअभ्युदयम् नामक नाटक लिखा।

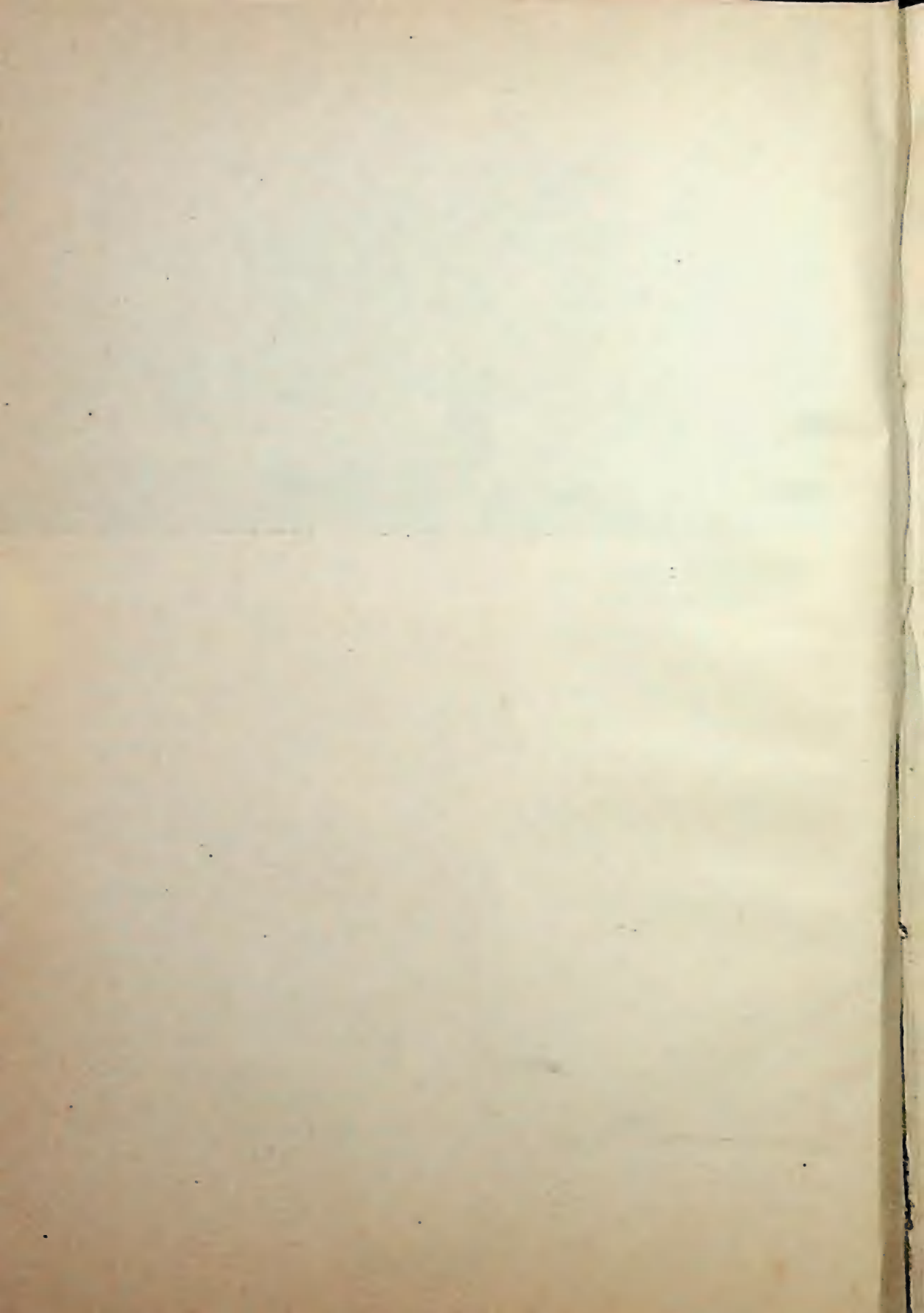
उनकी रानी रंगजम्मा ने स्वयं अपने पति को लक्ष्य कर मन्नारदासविलासम् नामक नाटक लिखा, जिसके रंगमंच पर प्रदर्शन में आंगिक अभिनय पर विशेष ध्यान दिया गया। रंगजम्मा के नाटक में पाँच भाषाओं का प्रयोग हुआ है, नाना प्रकार के पात्रों का समावेश है और नृत्य एवं नृत्त के अतिरिक्त रसाभिनय पर विशेष जोर दिया गया है। विजयराघव नायक के दरबार में ही क्षेत्रय्या नामक प्रतिभाशाली कवि और नाट्याचार्य ने कथावस्तु में पदों को शामिल करके सात्त्विक अभिनय के लिए गुंजाइश कर दी। उन्होंने ४००० के लगभग पदों की रचना की। उनसे पूर्व नृत्त के प्रकार तो थे, किन्तु 'पदम' की पद्धति नहीं थी (दे० कुचिपुडि भागवतम् पर संगीत-नाटक-अकादमी के सन् १९५६ ई० के सेमिनार के लिए अंगरेजी-लेख) पुरुषोत्तम दीक्षित ने तंजपुरन्नदाना महानाटक में विजयराघव के दरबार के एक ब्राह्मण के एक नर्तकी के प्रति हास्यास्पद अनुराग का खाका खींचा। विजयराघव के दरबार के नाटकों की एक विशेषता यह भी थी कि यद्यपि वे तेलुगु-भाषा में यक्षगान की शैली में निबद्ध थे, तथापि उनमें से कुछ में स्थानीय तमिल-क्षेत्र की लोकप्रिय विधा 'कुरुवंजी' के पात्रों का समावेश किया गया (दे० द फोक थिएटर ऑव आन्ध्रप्रदेश : लेखक एस्० वी० जोगाराव : 'नाट्य', वर्ष ६, संख्या ४, १९६२ ई०)। निस्सन्देह, विजयराघव नायक का भाषा-संगीतकों के इतिहास में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जितना कुल-शेखरवर्मन् और हरसिंहदेव का।

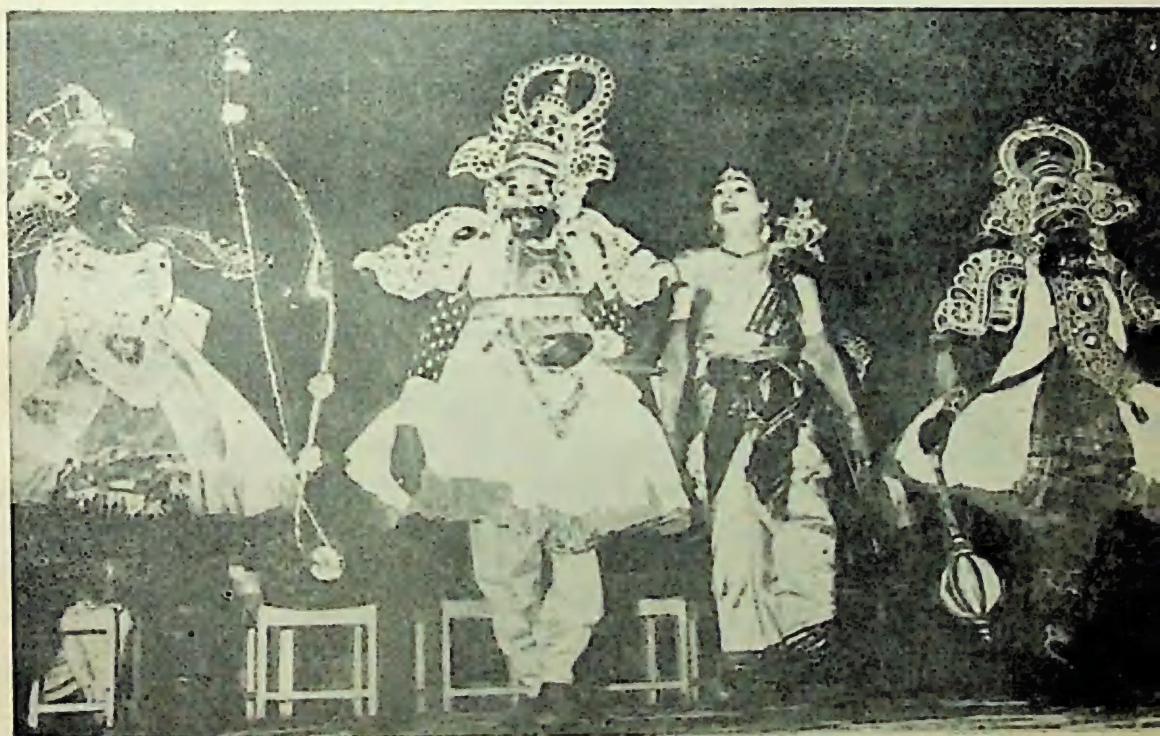
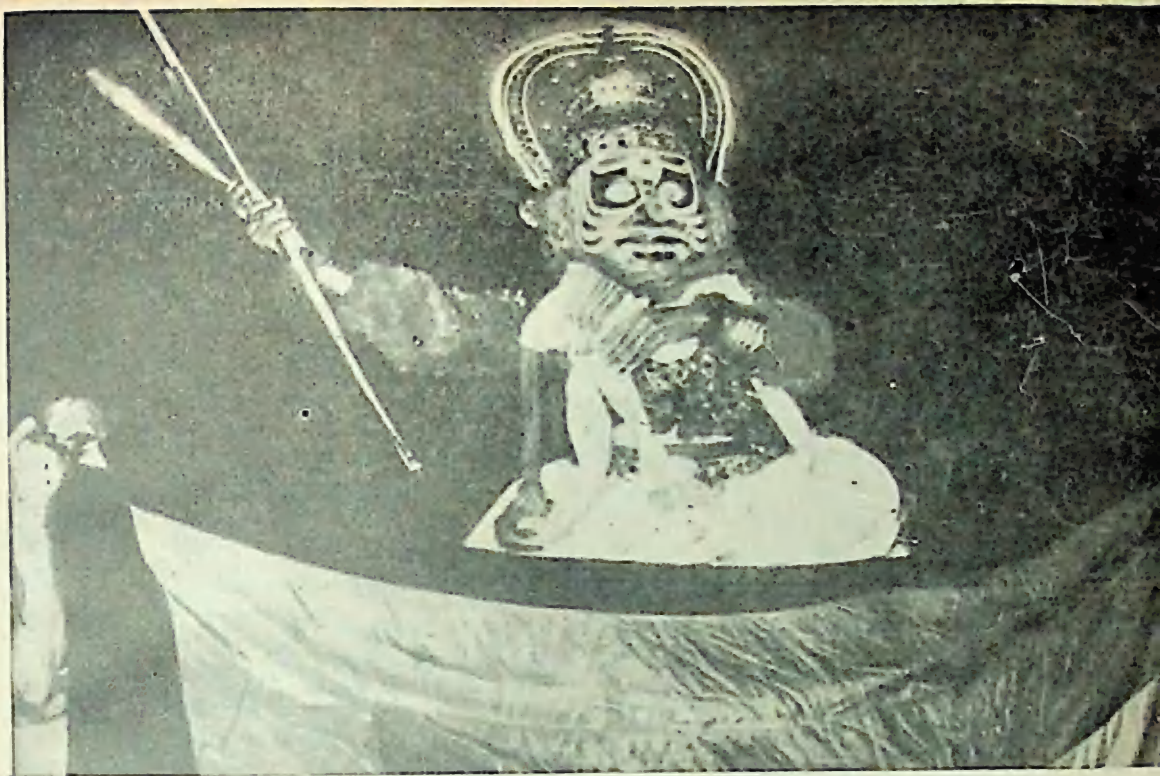
इधर आन्ध्र-क्षेत्र में गोलकुण्डा के नवाब अबुल हसन तनाशा (सन् १६७२ से १६८५ ई०) ने कुचिपुडि ग्राम के सन्त सिद्धेन्द्र योगी को अपने अग्रहारम् में ही भागवत-नाटकों के अभिनय की उन्नति के लिए एक सनद प्रदान की। नवाब के दो मन्त्री अवकन्ना और मदन्ना अपनी एक नाटक-मण्डली भी रखे हुए थे। योगी सिद्धेन्द्र ने ही कुचिपुडि में सत्यभामा के वृत्त को लेकर 'भामाकलापम्' और एक ग्वालिन के वृत्त के आधार पर 'गोल्लकलागम्' नामक कथाओं को संगीतकों में प्रस्तुत किया। इन 'कलापों' में एक ओर शृंगार और अध्यात्म का चरमोत्कर्ष है, दूसरी ओर लोक-प्रचलित त्रिदूषक पात्र-पात्रियों का भी प्रवेश है, यथा 'भामाकलापम्' में माधवी और 'गोल्लकलापम्' में सुंकरी कोण्डय्या।

सारे दक्षिण में उन दिनों मिश्रित शैलियों में नाटकीय प्रयोग राजा-महाराजाओं की दिलचस्पी के कारण हो रहे थे। मैसूर-नरेश कण्ठीरव नरसराज (सन् १७०४ से १७१३ ई०) ने चार भाषाओं (तेलुगु, कन्नड़, तमिल और प्राकृत) में एक कुरुवंजी की रचना की। शिवाजी की मृत्यु के बाद तंजोर में शाहजी (सन् १६८४ से १७१२ ई०) और उनके बाद अनेक मराठा राजाओं ने (जिनमें सफोजी द्वितीय, सन् १७६८ से १८३२ ई०, का नाम विशेष उल्लेखनीय है) तेलुगु, तमिल, मराठी, कन्नड़, हिन्दी—इन सभी भाषाओं में संगीतकों की रचना करवाई। तंजोर में पाण्डुलिपियों के सरस्वतीमहल-संग्रहालय में मुझे दो ऐसे संगीतकों की पाण्डुलिपियाँ देखने को मिलीं, जिनकी भाषा अज है, लिपि तेलुगु और संगीत कर्णाटकी। इनमें से एक वंशीधरविलासनाटकम् की विषयवस्तु रूपगोस्वामी के विदग्धमाधव नाटक (और गोविन्दहुलास नाटक) से मिलती-जुलती है। सफोजी ने तंजोर में एक ऐसी नाट्यशाला बनवाई, जिसका ध्वनि-विधान (एकूस्टिक) आधुनिक इंजीनियरों के लिए भी चुनौती है।

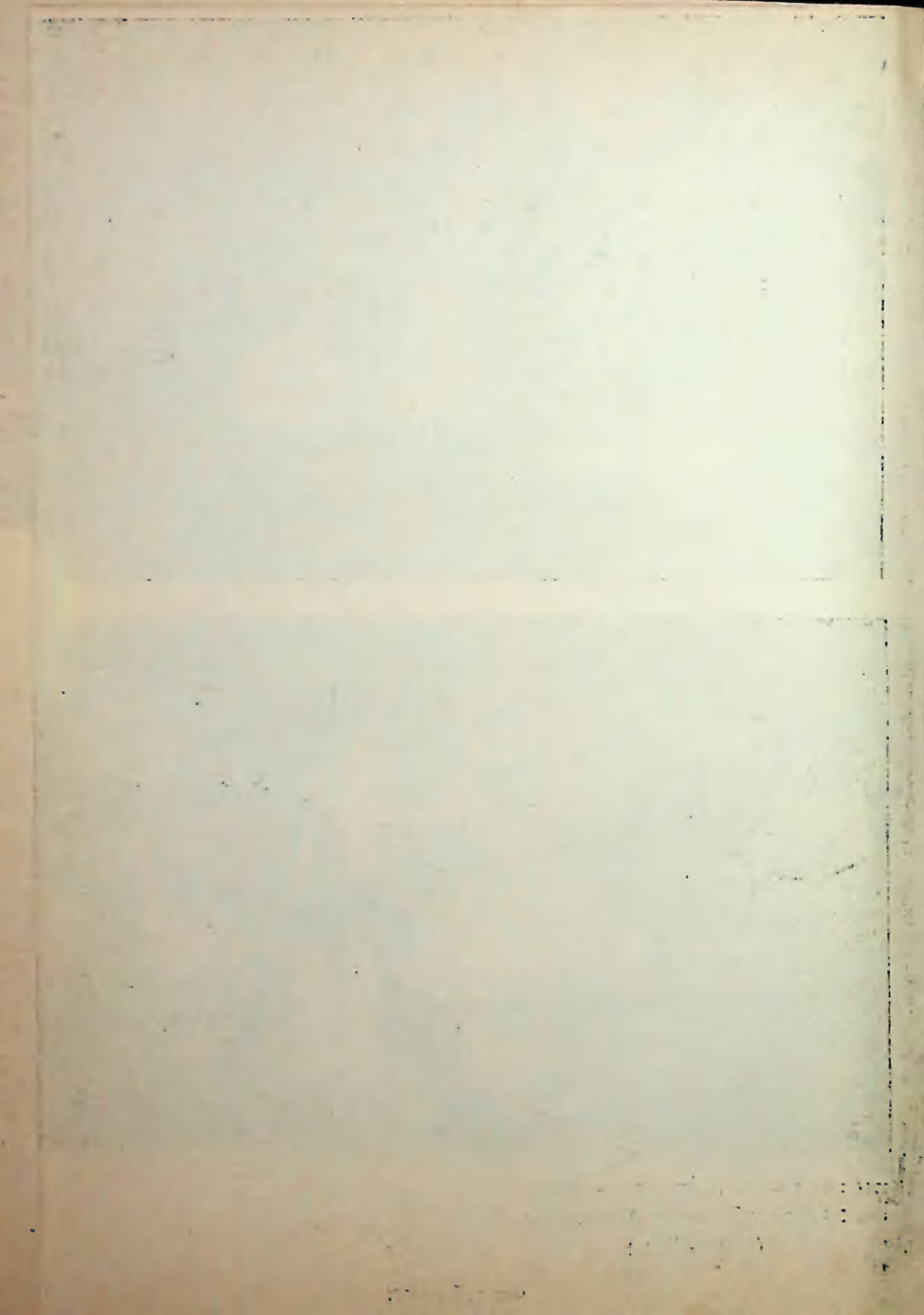


आन्ध्र का कुचिपुडि : पूर्णरंग
गणेश-वन्दना





ऊपर : केरल का प्राचीन वेण्णव नाट्य-कृष्णाट्टम्
नीचे : तेक्कुथु—तामिलनाडु का पौराणिक नाट्य
(पाण्डव-द्रौपदी)



वस्तुतः, मराठा राजा और सरदार उत्तर और दक्षिण की आंचलिक नाट्य-विधाओं को एक-दूसरे के निकट लाने के साधन बने; क्योंकि १८वीं सदी में मराठा-राज्य दिल्ली से तंजोर तक, बड़ौदा से उड़ीसा तक फैलता रहा था। महाराष्ट्र में 'तमाशा' रंगमंच का विकास उत्तर और दक्षिण के इसी मेल का परिणाम था। कर्णाटक की 'दौडाट्टा' और 'सन्नाटा' पद्धतियाँ भी इसी युग में विकासशील हुई और सन्नाटा के संगीत में हिन्दुस्तानी संगीत की राग-रागिनियों (भैरवी मुलतानी) का समावेश (दे० द कर्णाटक थिएटर: डॉ० एच्० के० रंगनाथ) मराठा-शासकों के कारण ही हुआ।

लेकिन, मराठों के प्रभाव के बावजूद परम्पराशील नाट्य के इस युग में मुख्यतः आंचलिक विशेषताओं का निखार हुआ। मैसूर के चिक्कदेवराज के दरबारी कवि नरसिंहार्य ने सन् १६८० ई० में आधुनिक कन्नड के प्रथम नाटक मिन्नवृन्द गोविन्द की रचना की। सन् १६९० ई० में आधुनिक मराठी का प्रथम नाटक श्रीलक्ष्मीनारायणकल्याणम् लिखा गया। केरल में कालीकट और कोचीन के नरेशों की आपसी स्पर्धा के फलस्वरूप 'कथकली' और 'कुष्णाट्टम्' का विकास हुआ। यद्यपि ये दोनों पद्धतियाँ नाट्य के वर्ग में न आकर नृत्य की अभिनयात्मक अभिव्यक्ति मानी जायेंगी, तथापि कुलशेखरवर्मन् द्वारा प्रवर्तित कूटियाट्टम्-नाट्य का जो रूपान्तर १७वीं-१८वीं शताब्दियों में हुआ, कथकली और कुष्णाट्टम् उसका ही परिणाम थीं। मलाबार के तट पर पुर्तगाल से आये हुए ईसाइयों ने भी इसी युग में 'चिट्टट्टु नाटकम्' नामक शैली में ईसाई-मत की वीरगाथाओं को प्रस्तुत किया।

उत्तर में राजस्थान की रियासतों को १८वीं सदी में मुगल-सम्राज्य के ह्रास के कारण सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए फुरसत मिली। चित्तौर और धोसुण्डा में 'तुराकिलिंगी' नामक पद्यसंवाद-शैली उत्पन्न हुई और बाद में राजस्थानी 'माँच'-शैली का नाट्य तुराकिलिंगी के प्रभाव से ही चित्तौर में विकसित हुआ। १८वीं सदी के प्रारम्भ में ही राजस्थानी 'ख्याल' का उदय हुआ (दे० श्रीदेवीलाल सामर का लेख 'द ट्रेडिशनल थिएटर ऑव राजस्थान', 'नाट्य' १९६२, संगीत-नाटक-अकादेमी) और मेरा अनुमान है कि जिस किशनगढ़-रियासत में १८वीं सदी में चित्रकला की अभूतपूर्व अभिव्यक्ति हुई, वहीं के नरेशों ने ख्याल-मण्डलियों को विशेष प्रोत्साहन दिया। 'ख्याल' की दो शैलियाँ प्रधान मानी जाती हैं—कूचावन की शैली और शेखावट की शैली। बीकानेर और जैसलमेर में 'रम्मत'-पद्धति के ख्यालों में अभिनय और नाटकीय परिस्थितियों पर विशेष ध्यान दिया गया।

राजस्थान के ख्यालों में वीरगाथाओं और प्रेमकथाओं की प्रधानता और उनके संगीत में राजस्थानी लोकगीतों की धुनों और तालों का समावेश—ये दो विशेषताएँ उन्हें भक्ति-प्रधान-नाट्य शैलियों से पृथक् सत्ता प्रदान करती हैं। यही बात मालवा के माँच और पंजाब एवं हरियाणा के स्वाँग और सांगीत पर लागू होती है, जिनका विकास इसी युग में हुआ। हरियाणा और पंजाब के प्रारम्भिक स्वाँगों पर अनेक प्राचीन वीरगाथाओं का प्रभाव दीख पड़ता है। कैप्टन टेम्पल ने गुरु गुग्गा, सीला दाई, राजा गोपीचन्द और राजा नल स्वाँगों का विवरण दिया है। (दे० द लेजेण्ड ऑव पंजाब: कैप्टन टेम्पल, बम्बई, १८८४ ई०)

लेकिन, वीरगाथाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध गाथा थी राजा रसालू की। स्वांगों का प्रदर्शन ब्राह्मण नटों द्वारा किया जाता था और उनमें पौराणिक प्रसंगों एवं स्थानीय शौर्य-कथाओं का सम्मिश्रण होता था।

काश्मीर की घाटी में भी इसी युग में या इससे कुछ पूर्व परम्पराशील नाट्य का विकास कुछ दूसरी परिस्थिति में हुआ। यों तो १४वीं शताब्दी ही में उदारहृदय और रसमर्मज्ञ मुसलमान राजा जैनुल आब्दीन ने अपने दरबार में संगीतज्ञों और नटों को विशेष प्रोत्साहन दिया, किन्तु काश्मीर की विशेष नाट्य-विधा 'भाँड़ पत्र' का विकास परवर्ती राजाओं अलीशाह और हसनशाह की राज्यावधि के बाद हुआ जान पड़ता है। अलीशाह और हसन शाह ने कर्नाटक से कुछ गायकों को अपने दरबार में बुलाया और इसके फलस्वरूप अनेक कर्नाटक राग-रागिनियाँ काश्मीर की 'मुकाम'-पद्धति में सम्मिलित कर दी गईं। परम्पराशील नाट्य के ऐतिहासिक विवेचन में बार-बार दक्षिण द्वारा उत्तर को प्रदत्त इस प्रकार के सांस्कृतिक नेतृत्व के सबूत मिलते हैं। इसके कुछ समय बाद सदफ भाँड़ नामक कलाकार बाहर से काश्मीर आया और उसने ही 'भाँड़-जश्न' नामक नाट्य-शैली को जारी किया (दे० 'भाँड़ पत्र' पर श्री के० के० ब्राह्म का अँगरेजी-लेख, 'नाट्य', संगीत-नाटक-अकादेमी, १९६२ ई०)।

यद्यपि असम में महापुरुष शंकरदेव द्वारा स्थापित सत्रों में अंकिया नाटों की परम्परा अपने मूल रूप में ही बराबर चलती रही, तथापि कालियदमनयान्न एवं पारिजातहरण नाटक का प्रभाव बंगाल और पूर्वी विहार पर अत्यन्त व्यापक रूप से पड़ा। १८वीं शताब्दी के अन्त तक बंगाल में 'जात्रा' परम्पराशील नाट्य की प्रमुख विधा के रूप में स्वीकृत हो गई और उसमें पौराणिक धर्मप्रधान कथानकों के अतिरिक्त, लोकप्रचलित प्रेमकथाओं का भी समावेश होने लगा। मिथिला में विद्यापति के संरक्षक ओइनवारवंशीय राजाओं के उपरान्त दरभंगा के महेश ठाकुर ने राजवंश के कीर्त्तनियाँ नाटकों की परम्परा जारी रखी। यद्यपि कथावस्तु पर पौराणिक वातावरण का प्रभाव था, तथापि मिथिला का कीर्त्तनियाँ रंगमंच १७वीं-१८वीं शताब्दियों में संस्कृत-नाट्यपद्धति की ओर अधिक उन्मुख रहा।

ब्रज की रासलीला इस युग में लोक-संस्कृति के अधिक निकट आई। इसका प्रधान श्रेय चन्दसखी नामक कवि को है, जिनका जन्म सन् १६४३ ई० के आसपास माना जाता है। इन्होंने अपनी चन्द्रावली-लीला में श्रीकृष्ण की चन्द्रावली नामक गूजरी को छलने के लिए की गई छद्मलीला का कथानक लिया। लोकजीवन से उन्होंने पात्र और कथानक ही नहीं लिये, वरन् लोकधुनों को भी लीला-संगीत में शामिल किया। यह एक साहसपूर्ण प्रयोग था, जिसने परवर्ती लीला-साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला, यद्यपि यह भी मानना होगा कि लोकधुनों के प्रवेश के फलस्वरूप रासलीला का स्वरूप उतना अक्षुण्ण न रह सका, जितना असम के अंकिया नाट का रहा है। चन्दसखी के बाद रासलीला के उत्थान के इस युग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम चाचा हितवृन्दावनदास का है, जिन्होंने सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रखते हुए भी रासलीला को पूर्णतः ब्रज के जनजीवन का दर्पण बना दिया। उन्होंने लगभग २७ छद्मलीलाओं की रचना की, और इसके अतिरिक्त साधारण ब्रज-परिवारों में

होनेवाली रीतियों एवं उत्सवों को भी लीला-साहित्य का आधार बनाया। गौनेबारीलीला, हुलरीलीला, वनजारौलीला इत्यादि ने रासलीला की परम्परा ही बदल दी, उसमें एक तरह की स्फूर्ति, लचक और आत्मीयता का समावेश हो गया, जो रासलीला के मात्र धर्मप्रधान और साम्प्रदायिक स्वरूप में सम्भव न थी। चाचा हितवृन्दावनदास ने कथोपकथन और गद्यांश को रासलीला में महत्वपूर्ण स्थान देकर उसके नाटकीय तत्त्व की अभिवृद्धि की। वर्तमान रासलीला का रूप वस्तुतः चाचा हितवृन्दावनदास द्वारा ही स्थिर किया गया था।

वर्तमान युग में परम्पराशील नाट्य (सन् १८०० ई० के बाद) :

उन्नीसवीं सदी में आंचलिक नाट्य और रंगमंच में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ। यह कहा जा सकता है कि आजकल जो परम्पराशील नाट्य-शैलियाँ पाई जाती हैं, उनकी रूपरेखा अठारहवीं सदी और उससे पहले ही निर्धारित हो गई थी। किन्तु, उन्नीसवीं सदी में एक लम्बे अरसे के लिए देश में शान्ति होने के कारण इन कलाकारों को प्रदर्शन के लिए अनेक अवसर मिलते रहे। छोटे-मोटे राज्यों में उनके संरक्षण और निर्वाह का आयोजन भी हो गया। जमीन्दारी-प्रथा के फलस्वरूप बंगाल एवं अन्य पूर्वी सुबों में एक ऐसा अभिजात-वर्ग पैदा हो गया, जो नृत्य-संगीत-कलाओं में दिलचस्पी ले सकता था। किन्तु, साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से उन्नीसवीं सदी के मध्य में क्षेत्रीय भाषाओं में नई नाट्यशैली के प्रयोग सामने आने लगे। उससे पूर्व बंगाल में जात्रा-रंगमंच में प्रदर्शन के कुछ पाश्चात्य तरीके अपनाये जाने लगे। लखनऊ में इन्दरसभा का प्रयोग साँग और रासलीला पर पाश्चात्य ओपेरा-शैली के आरोपण द्वारा किया गया। बम्बई और कलकत्ता में पारसी थियेटर का सूत्रपात हुआ। किन्तु, इन सभी प्रयोगों की जड़ें परम्परागत नाट्य-शैली से अलग हटी हुई नहीं थीं। आज जो पार्थक्य हम आधुनिक नागरिक रंगमंच और परम्परा-शील आंचलिक रंगमंच के बीच देखते हैं, वह तबतक उत्पन्न नहीं हुआ था।

उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दो दशकों में परम्पराशील रंगमंच समर्थ और व्यापक रहा और उसमें नई-नई रचनाएँ भी होती रहीं। साँग, नौटंकी, जात्रा, माँच, भागवतमेल, दौडाट्टा—ये सभी जनमानस के बीच एक तत्पर सांस्कृतिक प्रवृत्ति के रूप में विहरते रहे। इस युग में परम्पराशील नाट्य परिवर्तनशील सामाजिक चेतना से प्रभावित होता रहा है, यद्यपि यह प्रभाव प्रायः अपरोक्ष रूप में ही पड़ा है। उदाहरणतः, रासलीला में महात्मा प्रेमानन्द ने प्रवचन गूँथने की प्रणाली चलाई, जो आर्यसमाज के उपदेशों की भाँति दर्शक-समाज को सीधे सम्बोधित करते हुए भी ब्रज के माधुर्य और शब्दावली से सम्पृक्त हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं के अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के जीवनचरित पर आधारित रासलीलाओं का प्रदर्शन भी एक नवीनता ही है। जमीन्दारों और सत्ताधारियों के अत्याचार से प्रपीडित जनता की भावनाओं को राजस्थान के ख्याल, मालवा के माँच और गुजरात की भवई में मार्मिक कथा-प्रसंगों द्वारा प्रतिबिम्बित किया जाने लगा। सामाजिक कुरीतियों (यथा, वृद्ध-विवाह) पर भी प्रखर आघात हिमाचल की 'करियाला' और विहार की

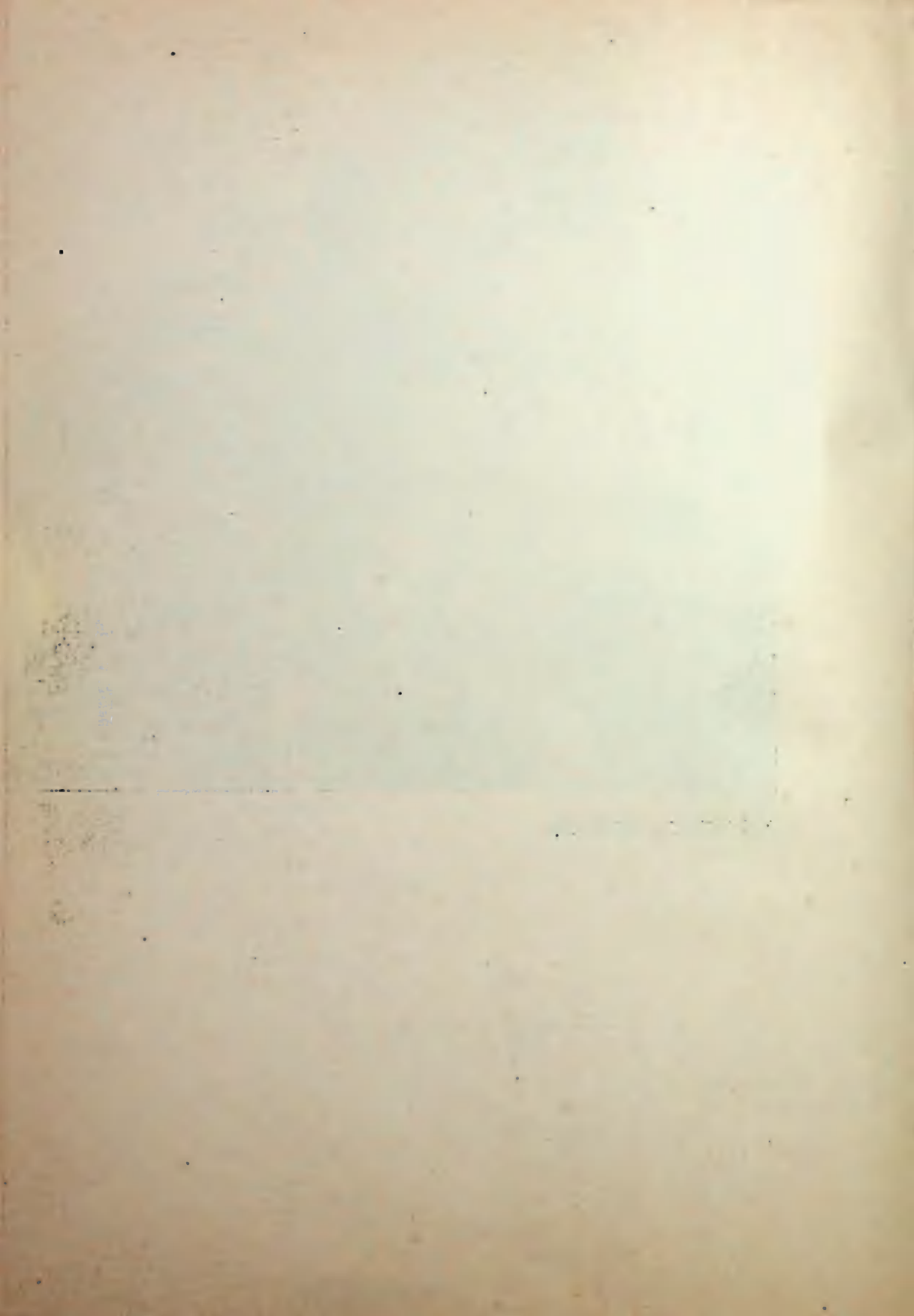
‘विदेसिया’ इत्यादि नाट्य-विधाओं में होने लगा। जातिगत भेदभाव का विरोध अक्सर परम्पराशील नाट्य में हुआ है और तमाशा एवं भवई के विकास में इस भेदभाव के विरुद्ध विद्रोह की भावना का विशेष हाथ रहा। ख्याल, माँच और नौटंकी के कई हीरो तथा-कथित निम्न जातियों से ही लिये गये। परम्पराशील नाट्य का इस युग के नागरिक साहित्य से सम्बन्ध टूट ही-सा गया।

बीसवीं सदी में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव तथा सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप जिस निम्न मध्यवर्ग के हाथ में सामाजिक चेतना का नेतृत्व आया, उस वर्ग ने परम्पराशील रंगमंच और कला की उपेक्षा की। उसका साहित्य भी एक ओर तो पाश्चात्य धरोहर से सम्बद्ध था और दूसरी ओर उसका नैतिक दृष्टिकोण उल्लास और रसानुभूति के प्रतिकूल पड़ता था। निम्न मध्यवर्ग की इन प्रवृत्तियों को देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन ने और तीव्र कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जिस मध्ययुगीन वातावरण में परम्पराशील आंचलिक नाट्य-शैलियाँ विकसित हुई थीं, उनके प्रति इस निम्न वर्ग का कोई अनुराग नहीं था। एक नई नागरिक संस्कृति ने जन्म लिया और उसके साथ ही परम्परा और ग्राम्य संस्कृति से परिवेष्टित इस रंगमंच को भी गौण स्थान मिलने लगा। अब यह परिस्थिति आ गई है कि परम्पराशील रंगमंच और नाट्य के समीचीन मूल्यांकन के लिए हमें पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लोक-संस्कृति की प्रतिष्ठा की दुहाई देनी पड़ती है।

परम्पराशील नाट्य और रंगमंच की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हमें इसके वर्तमान रूप का आधार ज्ञात हो जाता है। स्पष्ट है कि इस नाट्य और रंगमंच में दो हजार वर्षों की नाट्य-परम्परा के खण्डित अंश यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। एक ओर तो भरत द्वारा निर्देशित पूर्वरंग के तत्त्व, दूसरी ओर जयदेव द्वारा प्रचलित संलाप और सूत्रधार की शैली, एक ओर भागवतधर्म के अवतारी पुरुषों की कथाएँ और दूसरी ओर मुगल-दरबार के परिहास और विनोद, एक ओर हस्तमुक्तावली में दी गई मुद्राओं का चमत्कार, दूसरी ओर सत्रहवीं शताब्दी की वेश-भूषा। मार्क की बात यह है कि इन विभिन्न तत्त्वों से मिश्रित शैलियाँ अपने निजत्व का अवतक निर्वाह कर सकीं और उनमें से कुछ ने अपनी परम्परा अक्षुण्ण रखी।



रासलीला का एक युगल दृश्य



[द्वितीय भाग]

सामान्य विशेषताएँ

३. कथावस्तु और सामाजिक उद्देश्य
४. पात्राभिनय, गान, नृत्य और रस-निरूपण
५. रंग-व्यवस्था
६. वेशभूषा और पूर्वरंग



कथावस्तु और सामाजिक उद्देश्य

तीन प्रकार की कथावस्तु परम्पराशील नाट्यों या भाषा-संगीतकों में मिलती है। एक तो सारे देश के प्रेक्षकों की पौराणिक कथाओं और पात्रों में विशेष अभिरुचि इन नाटकों में प्रतिबिम्बित होती रही है; दूसरे, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया-स्वरूप यथार्थ जीवन को प्रदर्शित करनेवाली कथाएँ भी प्रायः प्रारम्भिक रूप में कुछ नाटकों का आधार रही हैं। तीसरे, प्रेम और शौर्य की कथाएँ, जिनका निरन्तर प्रवाह जनजीवन को सिंचित करता रहा है, कुछ नाट्य-शैलियों में विशेषतः पाई जाती हैं।

प्रेमाख्यान और शौर्य-कथाएँ :

प्रेमाख्यान तथा शौर्य की कथाएँ, जिनका 'कथासरित्सागर' में एक विशाल और मनोरंजक संग्रह है, वैदिक काल से ही भारतीय जीवन में प्रचलित रही हैं। धार्मिक आन्दोलन आये और चले गये। आक्रमणकारियों और शासकों का भी आना-जाना बना रहा, किन्तु ये कथाएँ बराबर लोकप्रिय रहीं, यद्यपि इनके नायक-नायिकाओं के नाम और पृष्ठभूमि बदलती रहीं। उत्तर भारत में भागवतधर्म के प्रचार के बाद पश्चिमी प्रदेशों में विशेषतः मालवा और राजस्थान में कुछ प्रेमाख्यानों को सूफी और बैरागी विचारों को व्यक्त करने के लिए साधन बनाया गया।

प्रेमाख्यानों की उत्कृष्ट परम्परा दिल्ली और आगरा के आसपास 'सांग' और 'सांगीत' में विशेषतः विकसित हुई। पंजाब में शालिवाहन राजा रसालू की कथा का सांग, प्राचीन युग में सियालकोट के आसपास विभिन्न जातियों के संघर्ष की कथा को एक प्रेमाख्यान के रूप में चालू किये हुए था। नौटंकी, जो अब सांग का ही एक पर्याय मानी जाती है, वस्तुतः कथा-विशेष की नायिका का नाम है। नौटंकी मुलतान की शाहजादी थी, जिसके सौन्दर्य की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। पास ही एक रियासत में भूपसिंह और फूलसिंह दो भाई थे। फूलसिंह विनव्याहा था, सुन्दर और स्वस्थ नौजवान। भोजन के विषय में भाभी से लड़ाई हुई। भाभी ने ताना दिया कि ऐसी शान है, तो नौटंकी से शादी क्यों नहीं कर लेते! फूलसिंह घोड़े पर सवार होकर मुलतान चल दिया, यद्यपि नौटंकी का पिता मुलतान का बादशाह अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात था। शहर के बाहर बगीचे में दोनों ठहरे। मालिन नौटंकी के लिए माला बना रही थी। फूलसिंह बड़ा दक्ष मालाकार था और उसने झट से बड़ी सुन्दर माला बना दी, जिसपर नौटंकी मोहित हो गई। मालिन ने कहा कि उसके भतीजे ने गुजरात की एक लड़की से शादी की है और उसी ने माला बनाई है। शाहजादी ने हुक्म दिया कि लड़की उसके पास लाई जाय। फूलसिंह स्त्री-वेश में नौटंकी के पास पहुँच जाता है। वह उससे भी भैनाचारी करना चाहती है और रात में साथ सोने के लिए आग्रह करती है। फूलसिंह उससे पूछता है कि वह शादी क्यों नहीं कर लेती। वह कहती है कि मेरे योग्य कोई पुरुष ही नहीं। यदि तुम पुरुष होती, तो हमलोगों का जोड़ा अच्छा रहता। फूलसिंह उससे कहता है कि अपने इष्ट

देवता का स्मरण करो, ताकि दोनों में कोई एक पुरुष बन जाय। नौटंकी वैसे ही करती है और तब फूलसिंह अपने पुरुष-वेश में प्रकट हो जाता है। दूसरे दिन एक दासी बादशाह को सूचना दे देती है। फूलसिंह पकड़ा जाता है और उसको फाँसी की सजा होती है। नौटंकी एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में जहर का प्याला लिये हुए फाँसी के स्थल पर पहुँचती है और फूलसिंह को छुड़ा लेती है। उसकी वीरता पर मुग्ध होकर बादशाह दोनों की शादी कर देता है।

नौटंकी की कथावस्तु में रोमांच और प्रेम के तत्त्व इस तरह से मिश्रित थे कि यह साँग हिन्दी-प्रदेशों में तुरन्त लोकप्रिय हो गया। उसी ढंग की परिस्थितियों पर और भी साँग रचे गये—जैसे हाथरस के नत्थाराम द्वारा रचित स्याहपोश। इसमें सीरिया के वजीर की पुत्री जमाल और हैरात के गबरू सैयद की प्रेमकथा है। इस नाटक में प्रेम के अतिरिक्त दोस्ती के आदर्श को भी बहुत ऊँचा उठाया गया है। नत्थाराम ने हाथरस में और दीपचन्द एवं लक्ष्मीचन्द ने हरियाना में प्रेमाख्यानों पर आधारित कई नाटक लिखे, जिनमें पद्मा, खुदादोस्त, सारन्दे, चन्द्रकिरण और कुँवर निहालदे विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से अनेक में मालिन, विश्वासी मित्र, जल्लाद इत्यादि पात्र हम पाते हैं और कुछ करिश्मों का भी उल्लेख होता है। पिछले दिनों राजकुमारों और शाहजादियों से हटकर प्रेमकथा मध्य वर्ग के युवक-युवतियों पर केन्द्रित हो गई है। रंगीली रेश्मा रूपनगर गाँव के जमीन्दार के पुत्र रणवीर और कुण्डनपुर गाँव की रेश्मा नामक लड़की के दुःखान्त प्रेम पर आधारित साँग है। लीलोचमन में भारत-विभाजन के फलस्वरूप त्रस्त हिन्दू और मुसलमान प्रेमियों की दुःखान्त कथा है।

राजस्थान के ख्याल और मालवा के माँच के प्रेमाख्यानों में कुछ ऐसे गीति-तत्त्व हैं और साथ ही नीतिपरकता भी, जो साँग और नौटंकी की कथाओं में नहीं हैं। वीरों के देश राजस्थान के भाटों और कवियों ने वीरता, आत्मबलिदान और उच्च मनोवृत्ति की कथाओं को जीवित रखा है। किन्तु विशेषता यह है कि राजस्थान के 'ख्याल' नाट्यों में उन इतिहास-प्रसिद्ध राजपूत राजाओं की कथाएँ कम हैं, जिनका गुणगान राजदरबार के भाटों ने किया है। ऐसा जान पड़ता है कि सामान्य दर्शकों ने उन वीरों की कथाओं में अधिक अभिरुचि दिखाई, जो निर्धन और दलित जातियों की सेवा के कारण विख्यात हो गये। तेजाजी ऐसे ही एक वीर थे। बचपन में शादी हो गई, लेकिन समधियों में वैमनस्य के कारण उसने अपनी बधू को कभी देखा ही नहीं और न उसे मालूम था कि उसकी शादी हो चुकी है। भाभी से कहा-सुनी के बाद यह रहस्य जाहिर होता है और तेजाजी चल देता है अपनी पत्नी को लाने। रास्ते में एक साँप को वनाग्नि से बचाता है, किन्तु साँप उसको काटना चाहता है; क्योंकि उसने उसे मर जाने नहीं दिया। तेजाजी, यह वायदा करके कि अपनी पत्नी से मिलने के बाद वह लौटेगा, चल देता है। अनेक विघ्नों के उपरान्त पत्नी से मिलन की घड़ी आ जाती है, किन्तु तभी खबर आती है कि गरीब ग्वालों की गायों को कुछ गूजर जबरदस्ती उठा ले गये हैं। तेजाजी दस्युओं से युद्ध करके गड्ढों को बचा लेता है, लेकिन क्षत-विक्षत हो जाता है। मरणावस्था में उसे याद आती है

गाँव को दिये गये वचन की। सर्प कहता है कि कहीं काटूँ, तुम्हारे तो सारे बदन में घाव भरे हुए हैं। तेजाजी अपनी जीभ प्रस्तुत कर देता है। साँप उगको मरते समय बर देता है कि उसकी कीर्ति सारे देश-भर में गाई जायगी।

तेजाजी की कथा राजस्थान और मालवा में ख्याल और माँच के दलों द्वारा बराबर प्रस्तुत की जाती है। आत्मोत्सर्ग का जैसा आदर्श इस कथा में है, उससे मिलता-जुलता स्त्री के सतीत्व का आदर्श गुजरात के भवई के जसनाओदन नामक नाट्य में भी है। मालवा के माँच राजा भरथरी की कथा में सांसारिक प्रेम की निष्फलता और गुरु के प्रति श्रद्धा का पाठ वर्णित है।

प्रेमाख्यान की कथावस्तु में हमें चार विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। प्रथम तो इनमें से अधिकतर नाटक दुःखान्त हैं। वर्तमान फिल्मों के समर्थक प्रायः कहा करते हैं कि जन-साधारण को सुखान्त मनोरंजन चाहिए। वस्तुतः, ग्रामीण समाज में प्रचलित कथाएँ प्रायः वेदनासम्पृक्त होती हैं। किन्तु, यह वेदना निरर्थकता को घोषित नहीं करती। इसमें एक तरह की चिरन्तन गति है, हर आँसू में एक तरह की उपलब्धि है, हर व्यथा में पावक का गुण है। दूसरे, इन कथाओं में प्रेम उच्चादर्शों से प्रेरित होते हुए भी इन्द्रियासक्ति से दूर नहीं भटकता। गीतों एवं संवाद में वासना का उत्तेजन करनेवाले प्रसंग स्वच्छन्दता से दिये जाते हैं। तीसरे, उपदेशात्मक प्रसंग इन कथाओं में इतनी सहजता से समाविष्ट हैं कि जान पड़ता है कि दर्शक उपदेश की अपेक्षा करते हों। स्याहपोश नामक साँग में गवरू फाँसी की रस्सी के नीचे खड़ा होकर अपनी पत्नी को विधवा होने के बाद पावन जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है। स्पष्ट है कि इन अवतरणों को बड़े-बूढ़े उसी भाँति दोहराते होंगे, जिस तरह युवक वासनाजन्य गीतों को। चौथी बात यह है कि इन कथाओं में आत्मोत्सर्ग और आदर्शप्रियता शृंगारिकता के समतुल्य ही दर्शकों को प्रभावित करती है। दोस्ती निवाहना, वस्तु जनता की सहायता करना, दिये गये वचन का पालन करना—ये ऐसे बुनियादी सिद्धान्त हैं, जिनके आधार पर जन-जीवन की आस्था खड़ी है और जो ग्रामीण वातावरण के स्वार्थ और काहिली के बावजूद, सार्थक हैं।

पौराणिक प्रसंग और भागवत धर्म :

प्रेमाख्यान आंचलिक नाट्य के उतने व्यापक रूप से कथानकों के उद्गम नहीं हैं, जितने पौराणिक प्रसंग। वस्तुतः, आंचलिक नाट्य का कलेवर सबसे अधिक मात्रा में पुराणों और कथाओं से पोषित है। संस्कृत-नाटकों ने भी पात और कथाबीज पुराणों और रामायण-महाभारत से ग्रहण किये, जैसे यूनान और रोम के नाटकों ने उन देशों के प्राचीन आख्यानों से; किन्तु पुरावृत्तों से विचार या दृष्टिकोण नहीं लिये गये। पूर्वमध्य युग में जब परम्पराशील आंचलिक नाट्य-शैलियाँ विकसित हुईं, तब समाज में दो प्रतिक्रियाएँ उद्भूत हुईं। एक तो उन तथाकथित धार्मिक कृत्यों के विरुद्ध, जो शाक्तों, तान्त्रिकों और वाममार्गियों द्वारा फैलाये गये थे और दूसरे, संस्कृत के राजदरबार-सम्बन्धी नाटकों में वर्णित उच्चवर्गीय समाज के अनैतिक आचरणों के विरुद्ध। भागवत धर्म इन दोनों प्रतिक्रियाओं

का मूर्त्त और लोकसंग्रही रूप था। जो नाट्य उस वातावरण में पला और पनपा, उसे भागवत धर्म से पाल्न और कथाएँ तो मिली हों, आदर्श, नीति और भक्ति-प्रेरणा का कलेवर भी प्राप्त हुआ। भागवत धर्म के लिए भी यह हितकर परिस्थिति थी; क्योंकि रंगशाला और नाट्य भक्ति-सन्देश के माध्यम बन गये। मुस्लिम-राज्य में धर्म का संवर्धन राज-दरबार से हटकर रंगशाला का उत्तरदायित्व हो गया। रासलीला, रामलीला, कुचिपुडि, अंकिया नाट, जात्रा, दशावतार इत्यादि ने ही भागवत धर्म को जन-साधारण के बीच स्थिर रखा, उसका विस्तार किया। वल्लभाचार्य, चैतन्य और शंकरदेव ने बहुजन-सम्प्रेषण (मास कम्युनिकेशन) के ये ही साधन इस्तेमाल किये। बौद्धधर्म के लोकमानस से उठ जाने का कारण केवल यही नहीं था कि उसे जो राजकीय संरक्षण प्राप्त था, वह लुप्त हो गया, बल्कि यह भी कि उसे ऐसे प्रतिपक्षी, यानी भागवत धर्म से मुकाबिला करना पड़ा, जिसके पास विशाल जनता पर प्रभाव डालने के अत्यन्त रोचक, दृश्य-श्रव्य साधन (ऑडियो-विजुअल एड) मौजूद थे—नाटक, नृत्य, संगीत, कठपुतली इत्यादि। मुसलमान-शासन के बावजूद भागवत धर्म परम्पराशील रंगमंच के कारण जनमानस में ४०० वर्ष से बराबर प्रतिष्ठित रहा और आज भी उसका प्रभाव बाकी है।

भागवत धर्म की कथाएँ देश के एक छोर से दूसरे छोर तक आंचलिक परम्पराशील नाट्यों में प्रचलित हैं। हिरण्यकशिपु और नृसिंह का वृत्तान्त आन्ध्र, तमिलनाडु, अंकिया नाट और मथुरा की नृसिंहयात्रा में दिखाया जाता है। इस कथा का नाटकीय तत्त्व हिरण्यकशिपु के मद और घमण्ड के विस्तार और हनन में विद्यमान है। वस्तुतः, भागवत धर्म के नाट्य में दर्प और घमण्ड को इसलिए इतनी अतिशयोक्ति के साथ प्रदर्शित किया जाता है कि उसकी तुलना में भगवद्भक्ति के विनय और शालीनता का प्रभाव प्रेक्षकों पर गहरा पड़े। परशुराम-विजय, रावण-वध, रुक्मिणी-हरण इत्यादि नाटकों में परशुराम, रावण और रुक्म का चित्रण इसीलिए बड़ी सशक्त भाषा में और उनका अभिनय बड़े ओजस्वी ढंग से किया जाता है। प्रायः सबसे अधिक अनुभवी और सिद्धहस्त अभिनेता इन भूमिकाओं में उतरते हैं।

इस प्रचण्ड वातावरण के अतिरिक्त भागवत नाटकों में मधुर और आत्मीय वातावरण का भी प्रत्यक्षीकरण है। पारिजातहरण कई शैलियों में लोकप्रिय कथावस्तु है। कृष्ण उसमें एक सामान्य गृहस्थ के रूप में प्रतीत होते हैं, जो अपनी दो पत्नियों—रुक्मिणी और सत्यभामा के पारस्परिक विवाद को रोक नहीं पाते। विशेषतः, सत्यभामा का चरित कुचिपुडी में इतने कौशल के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि वहाँ एक नई अभिव्यंजना-शैली प्रचलित हो गई है, जिसे भामाकलापम् कहा जाता है और जिसे प्रस्तुत करने के लिए अत्यन्त उच्चकोटि के अभिनय की आवश्यकता होती है।

वालकृष्ण की छवि मथुरा-वृन्दावन की रासलीलाओं और असम के झुमरा नाटों में रूपायित हुई है। दानलीला का सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण असम के माधवदेव के एक झुमरा में हुआ। उसके बाद अज में तो लीलाओं की बाढ़-सी आ गई। जनसाधारण के बीच भगवान् का मनोमोहक रूप दिखाकर लीलाकार भक्त और भगवान् से इतना अन्तरंग

सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं कि भक्त को भगवान् का स्पर्श सहज सम्भाव्य जान पड़ता है। आदिशक्ति की स्रोत भगवती का मातृस्वरूप दुर्गा और चण्डी के रूप में बंगाल के जात्रा-नाटकों में उद्भासित है। चण्डीमंगल जात्रा में दुर्गा के अपने पितृगृह लौटने की कथा को ऐसे सरल और भावुक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, मानों बंगाल की किसी सामान्य गृहस्थी में कन्या के घर लौटने की झांकी हो। आज भी वैष्णव-सम्प्रदाय जात्रा का अपने मत के प्रचार के लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक पद्धति से उपयोग करता है। आधुनिक जात्राओं में चैतन्य महाप्रभु के चरित से सम्बद्ध जात्रा अत्यन्त मनोहारिणी है।

सामाजिक प्रसंग :

प्रेमाख्यानों और पुराणवृत्तों के अतिरिक्त परम्पराशील आंचलिक नाट्य, समाज की आलोचना करनेवाले प्रसंगों का भी उपयोग करते हैं। वस्तुतः, भारतीय ग्रामीण की विनोद-प्रवृत्ति, ठोस बुद्धि और तीखी प्रतिक्रियाएँ इन प्रसंगों में निखरती हैं। सम्भवतः, ऐसे आलोचना-मूलक सामाजिक प्रसंगों का समावेश उस परम्परा का द्योतक है, जो संस्कृत-नाटकों के युग में भाणों और प्रहसनों में निहित है। चूँकि ग्राम का वातावरण विलम्ब से परिवर्तित होता है, इसलिए भाण और प्रहसन की भंगिमाएँ बाद में चलती रही और आज भी वे परिहास, जो नगरों में पुराने पड़ गये हैं, आंचलिक नाट्य में जारी हैं।

हिमाचल-प्रदेश का 'करियाला' नामक नाट्य इस बात का सबूत है कि ग्रामीण समाज बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से परिचित है। करियाला-नाट्य में एक से अधिक छोटे-छोटे प्रहसन होते हैं, जिन्हें स्वांग कहा जाता है। (यह उत्तरप्रदेश, पंजाब के स्वांग या साँग से भिन्न है।) साहूकार का स्वांग, नम्बरदार का स्वांग, गड़ेरिये का स्वांग, थानेदार का स्वांग, साहू और भेग का स्वांग, इनमें हिमालय के सामान्य ग्रामीण की दृष्टि में सामाजिक विषमताओं के चित्र खींचे जाते हैं। साधुओं के स्वांग में साधुओं की एक मण्डली किसी गाँव में पहुँचती है और मुखिया के अनुरोध पर ग्रामवासियों को उपदेश देती है, जिनमें प्रज्ञा और दम्भ का अद्भुत मिश्रण है। एक ओर तो वे लोग ज्ञान और ध्यान की बातें करते हैं और दूसरी ओर मुखिया से दूध, दही और ईन्धन की माँग करते हैं। प्रमुख साधु अपने शिष्य से गंगाजल लाने को कहता है। गंगाजल आने पर साधुओं में इस बात पर तकरार होती है कि कौन पहले स्नान करे। यह उस विवाद की प्रतिध्वनि है, जो कुम्भ मेले में त्रिवेणी-स्नान के विषय में साधु-मण्डलियों के बीच छिड़ा करता है और जिसपर अक्सर लोह-लुहान हो जाता है। 'डायन का स्वांग' में एक ग्रामीण एक ऐसी स्त्री को, जिसके डायन होने का सन्देह है, भाभी नाम से सम्बोधित करता है। डायन शीशे के सामने खड़ी होकर अपने को सँवार रही है। 'भाभी, क्या कर रही हो?' 'मैं मधुमक्षी में पाट करने की तैयारी कर रही हूँ।' उन दिनों 'मधुमती' नाम की पुरानी फिल्म हिमाचल के गाँवों तक पहुँच गई थी और 'करियाला' के कलाकार ने मधुमती को मधुमक्षी बनाकर व्यंग्य किया है। बूढ़े के व्याह पर स्वांग तो कटाक्ष और तीव्र परिहास से भरपूर है।

बूढ़े के ब्याह का कथानक बिहार के 'बिदेसिया' नाटकों में भी विशेष प्रिय रहा है। जैसा बिहार में सर्वविदित है भिखारी ठाकुर की नाट्यशैली का नाम उनके प्रारम्भिक नाटक बिदेसिया के आधार पर पड़ा, जिसमें विदेश का अर्थ है कलकत्ता, जहाँ एक युवती का पति रोजगार के लिए जाता है और अन्य स्त्री के फेर में पड़ जाता है। भोजपुरी-क्षेत्र से अगणित ग्रामीण कलकत्ता में तरह-तरह की नौकरियों के लिए जाते हैं, अतः इस विरहिणी वाला की कष्ट वियोग-कथा मानों सामान्य अनुभूति की प्रतिध्वनि हो गई और चूँकि इसकी अभिव्यंजना सहज, सीधी और मुहावरेदार है, इसलिए थोड़े ही समय में वह स्त्री-पुरुषों के कण्ठ में व्याप्त हो गई। बिदेसिया के बाद भिखारी ठाकुर ने अनमेल विवाह को अपने नाटकों की विषय-वस्तु बनाया। सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित इन नाटकों में संवाद उदात्त और अश्लील इन दोनों के बीच डोलता है। अभिनेता को उपदेशात्मक मुद्रा से वासना-पूर्ण मुद्रा में बदलते क्षण की देर नहीं लगती और दोनों ही रूप में प्रेक्षक मानों उसके इशारे पर नाचते हैं।

भिखारी ठाकुर की अपेक्षा महाराष्ट्र के फट्टे बापूराव, जिनका देहान्त सन् १९४७ ई० में हुआ, अधिक सुसंस्कृत और पढ़े-लिखे थे। उनका व्यक्तिगत जीवन भी एक नाटक ही था; एक अछूत लड़की के प्रेम के कारण उन्होंने अपने समाज को तिलांजलि दी और महाराष्ट्र के विख्यात 'तमाशा' नामक आंचलिक नाट्य की एक मण्डली के नेता बन गये। फट्टे बापूराव द्वारा विरचित तमाशा मिठुरानी में एक ऐसी राजकुमारी की कथा है, जो अपने निर्धन प्रेमी की खातिर महलों का राजसुख छोड़कर दर-दर की भिखारिन होना स्वीकार करती है। 'तमाशा' में समसामयिक समाज पर टीका-टिप्पणी के अनेक अवसर होते हैं। प्रायः परम्परागत 'तमाशा' में मूलकथा एक ऐसे नायक को चित्रित करती है, जो अपने मूढ़ मित्र के साथ पहली बार नगर में जाता है और वहाँ एक वेश्या से मुलाकात करता है। वेश्या चतुर है और दोनों के संवाद में प्रश्नोत्तर की छाप है, जो हमारे यहाँ महाभारत-काल से ही लोक-साहित्य की परम्परा रही है और जिसमें वर्तमान समाज पर छोटकशी करने के अनेक अवसर मिल जाते हैं।

वस्तुतः, समाज की बदलती परिस्थितियों के प्रति परम्परागत नाट्य हमेशा जागरूक रहा है। सन् १९०४ ई० में प्रकाशित लखनऊ के गजेटियर में लखनऊ में खेलनेवाली एक कश्मीरी मण्डली का विवरण दिया गया है। यह मण्डली अपने प्रहसनों में अँगरेजी राज की कचहरियों, पुलिस के अफसरों और गोरे साहबों के कुत्सित घरेलू और सामाजिक जीवन का धड़ले से खाका खींचती थी। १९वीं सदी में जॉन मैलकम ने मालवा में बालुवा नामक ब्राह्मण द्वारा प्रदर्शित एक माँच का विवरण दिया है। बालुवा के प्रहसन में न केवल गणेश, शिव तथा दशावतार को प्रस्तुत किया जाता था, अपितु जिले के नये कारिन्दे की करतूतों का भी व्यंग्य चित्र अभिनीत होता था। किस तरह से गाँव का पटेल कारिन्दे की नजर में ऊँचा उठने के लिए ग्रामवासियों की उपेक्षा करता है और फिर स्वयं जलील हो जाता है, यह कथा ग्रामीण प्रेक्षकों में विशेष लोकप्रिय थी। मैलकम के वर्णन से यह स्पष्ट है कि

आंचलिक नाट्य, समाज की निकटतम समस्याओं को अपने प्रदर्शन की विषयवस्तु बनाने से हिचकता नहीं था।

मैलकम के विवरण की ही भाँति कर्णाटक में हुबली के गुरु सिद्ध द्वारा रचित एक नाटक का वर्णन मिलता है, जिसके संवाद में अँगरेज-सरकार ने जो नया कर लगाया था, उसकी तीखी समालोचना थी।

वर्तमान नागरिक और साहित्यिक नाटक तो एक अन्तर्द्वन्द्व से उद्बलित है—एक ओर तो सामाजिक समस्याओं का खिचाव और दूसरी ओर विकृत व्यक्तित्व के अचेतन मानस का आग्रह। परम्परागत आंचलिक नाट्य इस दुविधा से मुक्त है। वह बिना अंकुश के मनोरंजन कर सकता है, और उसी भाँति बिना संशय या हिचकिचाहट के उपदेश भी देता है। वह समाज में अपनी सार्थकता को भली भाँति समझता है और जानता है कि उसकी लोकप्रियता मनोरंजन और उपदेश के सामंजस्य पर ही निर्भर है।

पात्राभिनय, गान, नृत्य और रस-निरूपण

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त में अभिनय न तो अनुकरण करता है, न उत्पत्ति, उसका उद्देश्य है व्यंजना के माध्यम से रस की अनुभूति देना। व्यंजना के लिए अनुभावों, संचारी इत्यादि की आवश्यकता होती है। नट मुद्राओं, वाणी, मुखाकृति तथा वेश-भूषा द्वारा पात्र-विशेष के शील का प्रत्यक्षीकरण करता है और इस तरह दर्शकों के साथ एक तरह का सम्प्रेषण स्थापित हो जाता है।

पात्र-परिपाटी :

आंचलिक नाट्य में रूढ पात्रों के होते हुए भी विविधता इसलिए सम्भव हो सकती है; क्योंकि एक ही पात्र एक-से अधिक रसों का वाहक हो सकता है। विविधता का आधार रस है, न कि यथार्थ जीवन की अनुकृति। दूसरी बात यह है कि इन नाटकों के प्रायः मौखिक होने के कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि पात्रों का व्यवहार वर्गविशेष के गुणों को अभिव्यक्त करे। इसी को अंगरेजी में 'स्टाक कैरेक्टर' कहते हैं। इस तरह के पात्रों में रूढ़ियाँ केवल रूपरेखा का काम करती हैं; उस रूपरेखा के दायरे में नट अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा पात्र का चित्र पूरा कर सकता है। इस तरह एक ओर तो शास्त्रसम्मत रूपरेखा और दूसरी ओर व्यक्तिगत मौलिक प्रतिभा के सामंजस्य से इन नाटकों के पात्र चटकलीले रंगों में उभरते हैं।

फिर भी, कुछ आंचलिक नाट्यशैलियाँ अधिक शास्त्रसम्मत हैं। केरल के 'कूटियाट्टम्' में मुद्राएँ अक्सर अलग-अलग शब्दों के अर्थ प्रत्यक्ष करती हैं। अभिनेता प्रत्येक शब्द का स्पष्ट उच्चारण करता है और उस शब्द के उपसर्ग और प्रत्यय का मुद्राओं द्वारा प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। बालिवधनिका नामक नाटक के प्रदर्शन में सुग्रीव पहले तो अपने ताल, गति और अभिनय से यह स्थापित करता है कि वह वानर है। कभी वह वृक्ष की शाखाओं को पकड़कर हिलाने की भंगिमाएँ करता है, पत्तियों को तोड़ फेंकता है, बार-बार दाँत निकालकर दिखाता है, अपने सिर और नितम्ब को खरोंचता है और तरह-तरह के शब्द करता है। तदुपरान्त, मुद्राओं द्वारा सुग्रीव के राजा होने की स्थापना की जाती है। मुख-मुद्रा को केरल में 'स्तोभ' कहते हैं, इसमें नेत्र, भ्रू, अधर और कपोल को अलग-अलग हिलाया जाता है। इस संश्लिष्ट अभिनय के लिए चाक्यार जाति के लोग वचन से ही प्रशिक्षण पाते हैं। इस समय केरल में लगभग ६ चाक्यार-परिवार हैं। इसी परम्परा में नाम्बियार लोग मृदंग-वादन करते हैं और उनकी स्त्रियाँ, जिन्हें नान्यार कहा जाता है, कूटियाट्टम् में स्त्रियों का अभिनय करती हैं तथा अन्य पात्रों के नृत्याभिनय के साथ सस्वर गाती भी हैं।

अन्य प्रकार के नाट्यों में भी इस तरह अभिनय का उत्तरदायित्व बाँटा जाता है। तमिलनाडु-राज्य के मेलात्तूर गाँव में वर्ष में एक बार भागवतमेल नामक जो पौराणिक नाटक प्रस्तुत किये जाते हैं, उनके विभिन्न पात्र गाँव के विशेष कुटुम्बों द्वारा ही अभिनीत हो सकते हैं।

उदाहरणतः, एक ही कुटुम्ब से हर वर्ष हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतरनेवाला व्यक्ति लिया जाता है। उस कुटुम्ब में पीढ़ी-दर-पीढ़ी पितामह, पिता और पात्र सभी ने अपने अपने जमाने में हरिश्चन्द्र का ही पाट लिया होगा। यों, वे लोग उस पात्र के विशेषज्ञ बन जाते हैं। इसी भाँति हिरण्यकशिपु, चन्द्रमती, लीलावती के भी अलग-अलग कुटुम्ब हैं। कुटुम्ब का यह धर्म है कि वह पात्र-विशेष के लिए व्यवस्था करे, नहीं तो अनिष्ट की आशंका है। अनिष्ट का भय आज दिन क्षीण होता जा रहा है। गाँव के अनेक युवक शहरों में क्लर्क इत्यादि की नौकरी करने लगे हैं और अक्सर इस वार्षिक पर्व को सम्पन्न करने में कठिनाई होने लगी है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व इस गाँव में यह परम्परा स्थापित हुई थी, जब ये परिवार आन्ध्र से लाकर यहाँ बसाये गये थे। मद्रास-एकादमी के कुछ उत्साही कार्यकर्त्ता इस परम्परा को चालू रखने के लिए प्रयत्नशील हैं।

असम के सत्रों और मठों में भी अभिनेताओं से अपना उत्तरदायित्व निवाहने के लिए इस प्रकार का अंकुश अब नहीं रह गया है। १५वीं-१६वीं शताब्दियों में जब महापुरुष शंकरदेव ने वैष्णव मठों की स्थापना की, तब ये मठ आर्थिक दृष्टि से लगभग स्वावलम्बी थे और हरेक मठ से सम्बद्ध परिवार अथवा ब्रह्मचारी भक्त के कुछ धर्म निर्धारित थे। उनमें से एक धर्म था अंकिया नाट में भाग लेना। मठ अब आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं रह गये हैं और उनके कुछ सदस्य नगरों में नौकरी करने लग गये हैं। फिर भी, मेलात्तर की अपेक्षा असम के सत्रों में अब भी परम्परा अधिक सजीव और सशक्त है। उसका एक कारण यह भी है कि अभिनय के निर्देशन प्राचीन पोथियों में दिये गये हैं, और मठ के मुख्य अधिकारियों, मुख्य गायकों और वाद्यकारों का अनुशासन विधिवत् जारी है।

कुछ आंचलिक नाट्यशैलियों में रस-विशेष के उत्कर्ष के लिए नटों को विविध कलाओं में दक्षता प्राप्त करनी होती है। कर्णाटक के 'यक्षगान' में वीर-रस पर अधिक जोर दिया जाता है, नट को अक्सर भारी पोशाक पहनकर युद्ध का अभिनय करना पड़ता है, अतः उसे हूँट-पुँट होने के लिए व्यायाम करना होता है। ब्रज की रासलीला में, चूँकि कृष्ण के बालचरित अथवा किशोर-क्रीडाओं का प्राधान्य है, इसलिए अल्पवय के बालकों से ही अभिनय कराया जाता है। जहाँ स्वर में प्रौढ़ता आई, बालनायक समाजियों, यानी गायकों की पंक्ति में शामिल हो जाता है। बालकों से मुद्राओं और संकेतों का अभिनय प्रायः मुश्किल होता है, अतः वाणी और संवाद के चटपटेपन पर अधिक जोर दिया जाता है।

वाचिकाभिनय :

प्रेमाख्यानी नाटकों में, विशेषतः जो पौराणिक वृत्तों पर आधारित नहीं हैं, करुण रस का अभिनय विशेष महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणतः, यद्यपि नौटंकी में सांकेतिक अभिनय का अभाव है, तथापि व्यथा की अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से की जाती है। किन्तु, नौटंकी और साँग में नट एक प्रकार के संकेत का व्यवहार बराबर करते हैं: सम्भाषण में जब एक व्यक्ति बोलता है, तब दूसरा व्यक्ति बीच-बीच में एक उँगली उठा-उठाकर मानों बात समझने का संकेत देता जाता है। संवादों के बीच इस तरह के संकेतों की

परिपाटी शायद एकरसता को दूर करने के लिए व्यवहृत होती है। सांग में एकरसता दूर करने के लिए पात्र एक विशेष क्रम से मंच पर अपना स्थान भी बदलते रहते हैं और यों प्रेक्षक हर तरफ से प्रत्येक पात्र को देख सकते हैं।

प्रवचनात्मक अभिनय (अंगरेजी में जिसे 'डिवलेमेटरी' कहते हैं) राजस्थान, मालवा और उत्तरप्रदेश के नाट्यों की विशेषता है। संवाद के प्रत्येक अंश का उच्च तथा घोषणापूर्ण स्वर में वाचन किया जाता है और जान पड़ता है कि नट हर घोषणा के बाद आह्लाद और तृप्ति का अनुभव करता है। इन प्रादेशिक नाट्यों में प्रायः सभी नट ऊर्ध्व स्वर में उच्चारण करते हैं। इसके दो कारण जान पड़ते हैं—एक तो इन मण्डलियों में अक्सर एक ही व्यक्ति को कभी पुरुष और कभी स्त्री-पात्र का अभिनय करना होता है। अतः, ऋषभ के स्थान पर निपाद स्वर अधिक उपयुक्त रहता है। दूसरे, ऊर्ध्व स्वर का विस्तार अधिक दूर तक होता है। माइक्रोफोन-युग से पहले की इन मण्डलियों को यह ध्यान रखना पड़ता है कि दूर-दूर तक श्रोता उनके संवाद को सुन सकें।

पश्चिम प्रदेशों के आंचलिक नाट्य, यानी गुजरात के 'भवई' और महाराष्ट्र के 'तमाशा' में वरुण रस की अपेक्षा हास्यरस का उत्कर्ष देखा जाता है। 'भवई' में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के व्यवहार और आदतों का सजीव चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्रायः अनेक लघु एकांकी अभिनीत होते हैं। ये एकांकी 'वेश' कहलाते हैं। प्रत्येक 'वेश' में नृत्य और क्षिप्र संवाद का ताँता-सा बंधा रहता है और प्रश्नोत्तर-माला द्वारा प्रेक्षकों की उत्सुकता बनी रहती है। महाराष्ट्र के तमाशा में तो प्रश्नों की झड़ी-सी लग जाती है, और कुछ कूट-प्रश्न महाभारत में यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से पूछे गये प्रश्नों की याद दिलाते हैं।

वस्तुतः, आंचलिक नाट्य के अभिनय में परम्परागत निर्देशों और प्रत्युत्पन्नमति का सम्मिश्रण होता है। परम्परागत निर्देशों का पालन गम्भीर प्रसंगों पर होता है कि तारीफ यह है कि वही नट जब समसामयिक जीवन के यथार्थ-द्योतक प्रसंग पर आता है, तब आशुकवि की भाँति आवश्यकतानुसार यथार्थमूलक संवाद की सृष्टि करता चलता है। चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर जाता मैंने एक ही अभिनेता को दोनों प्रकार का अभिनय करते देखा है। विदेसिया के भिखारी ठाकुर भी इसी भाँति दो स्तरों पर सहज ही अभिनय कर लेते हैं। दो स्तरों के अभिनय और संवाद की प्रणाली जयदेव के समय से ही आंचलिक रंगशालाओं में आ गई थी। जैसा मैंने पहले कहा है, जयदेव के गीतगोविन्द से संलाप-शैली का विकास हुआ। यथार्थमूलक कथनोपकथन दूसरी प्रकार की संवाद-शैली थी। 'जात्रा', 'विदेसिया' और बिहार के 'कीर्त्तनियाँ' एवं 'विदापत' नाच में इस प्रकार गाम्भीर्य और लालित्य का जो सम्मिश्रण पाया जाता है, उसका मध्ययुगीन स्वरूप मैंने असम के अक्रिया नाटों में देखा।

सूत्रधार और विदूषक :

परम्पराशील नाट्य के अभिनेता को एक से अधिक प्रकार की दक्षता प्राप्त करना आवश्यक है। इन मण्डलियों में सबसे अधिक पारंगत सूत्रधार को होना पड़ता है। संस्कृत-

नाटकों में सूत्रधार प्रस्तावक का काम करता है, किन्तु आंचलिक नाट्य में सूत्रधार प्रस्तावक भी है और वाचक भी। वह घोषणा करता है और साथ ही नाट्य के मार्मिक स्थलों को स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी टिप्पणी भी देता जाता है। तमिलनाडु के 'वीथि-नाटकम्', में सूत्रधार को 'कट्टियंगरन' कहते हैं और वह प्रत्येक प्रधान पात्र का प्रारम्भ में परिचय देता है। यह परिचय मुद्राओं और संकेतों द्वारा गीत का अर्थ स्पष्ट करते हुए दिया जाता है।

भवई में सूत्रधार को नायक कहते हैं। उत्तरप्रदेश के 'नकल' और 'भगत' नामक प्रदर्शन में सूत्रधार को 'खलीफा' नाम से सम्बोधित किया जाता है। खलीफा प्रारम्भ में रंगशाला में आकर नाटक की रूपरेखा समझा देता है और फिर एक स्थान पर बैठकर बराबर अभिनय के लिए निर्देशन देता रहता है। आगरा की भगत-शैली में खलीफा के पद की विशेष प्रतिष्ठा है। नगर के विभिन्न भागों में मण्डलियाँ हैं और उनके अलग-अलग खलीफा। यदि कोई नट खलीफा बनना चाहता है, तो पहले तो वह अन्य खलीफाओं के पास इलायची भेजता है। फिर, सब खलीफाओं के मुहल्ले में जाकर उनके सम्मुख किसी पद का वाचन करता है, जिसके उत्तर में वे भी पद प्रस्तुत करते हैं। इस तरह अलग-अलग स्थानों में जाकर उसे अपनी योग्यता से प्रभावित करना पड़ता है। जब अन्य खलीफा लोग उसे अपनी श्रेणी में स्वीकार कर लेते हैं, तब पगड़ी बाँधने की रस्म अदा की जाती है।

फिर भी, सूत्रधार की सबसे सुसंस्कृत और प्रभावशाली परम्परा असम के अंकिया नाट में ही मँने देखी। शायद इसका एक कारण यह है कि अंकिया नाट लिखित रूप में उपलब्ध हैं और उनमें सूत्रधार के लिए उपयुक्त पाठ स्थिर हैं। इसीलिए, अंकिया रंगशाला में सूत्रधार की पोशाक भी अन्य आंचलिक रंगमंच की अपेक्षा अधिक परम्परागत है: सफेद पाजामा, जिसे 'चूड़ी' कहते हैं, 'गाठी सेला' नामक जामा, जिसकी बाँह ढीली और लम्बी होती है और रंग गुलाबी, 'गाठीकापड़' नामक कमरबन्द और सिर पर पगड़ी। हर पात्र-प्रवेश पर सूत्रधार ही सूचना देता है। उसकी घोषणाएँ और टिप्पणियाँ विशेष परिपाटी के अनुसार ही होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकरदेव ने इस प्रकार के सूत्रधार की सृष्टि भागवत-पाठ करनेवाले कथाकार पण्डितों के अनुसरण में की। वस्तुतः, शंकरदेव ने अपने नाटकों द्वारा भागवत की कथाओं को केवल श्रव्य-पाठ की जगह दृश्य-श्रव्य के प्रदर्शन में प्रस्तुत किया। इस तरह कथाकार पण्डित ही सूत्रधार के रूप में अवतीर्ण हुआ। सूत्रधार का यह उद्बोधक रूप वस्तुतः शंकरदेव की मौलिक सृष्टि थी।

सूत्रधार की ही भाँति आंचलिक रंगमंच का एक दूसरा रुढ़ पात्र (स्टाक-कैरेक्टर) है विदूषक। अक्सर एक विधा के सब नाटकों में विदूषक का नाम एक ही होता है। कर्णाटक के प्रत्येक 'दौडाट्टा' नाट्य में सूत्रधार 'अडासोगु' के नाम से पुकारा जाता है। बङ्गा हुआ पेट, लम्बी मूँछें, हाथ में छड़ी—ऐसे रूप में वह मंच पर आता है। मालवा के मंच में विदूषक का नाम है—शेरमारखाँ। वह प्रायः नाटक के नायक के साथ रहता है। चाहे नाटक का नायक राजा भरथरी हो, उसका विनोदशील संगी शेरमारखाँ ही कहलायगा।

शेरमारखाँ केवल विदूषक ही नहीं है। कभी-कभी वह नायक के स्थान पर भी काम करता है। इस तरह एक पात्र द्वारा दूसरे का भार सँभालने को 'तलवार देना' कहा जाता है। नायक की भूमिका करनेवाला नट जब थक जाता है, तब वह अपनी तलवार शेरमारखाँ को थमा देता है और इसके अर्थ हैं कि उस नट के लौटने तक शेरमारखाँ ही नायक का पार्ट करेगा। रासलीला में विदूषक को 'मनमुखा' कहा जाता है। ग्वालियों में वह हँसोड़ होता है और प्रायः गोपियाँ उसे ही छेड़ती हैं।

नायक के साथ विदूषक की परम्परा संस्कृत के गौरव-ग्रन्थों से आई है और प्राचीन राजदरबारों में नमंसचिव के समान ही रंगशालाओं में स्वीकृत हुई। केरल का कूट्टिया-ट्टुम् संस्कृत-रंगशाला के सबसे अधिक निकट होने के कारण उसमें विदूषक भोजन-प्रेमी ब्राह्मण के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। वह बराबर नायक के साथ रहता है और नायक जो संवाद संस्कृत में कहता है, उसका सटिप्पण छायानुवाद वह मलयालम में करता जाता है। उसकी टिप्पणी में मूल के अन्यान्य अर्थ लगाये जाते हैं। राजदरबार के लोगों का खाका खींचा जाता है, ब्राह्मणों की छीछालेदर की जाती है और सामाजिक कुरीतियाँ अथवा राजनीतिक अभिसन्धियों का भी भण्डाफोड़ होता है। विदूषक मंच पर जाते समय अपने कान में पान का बीड़ा लगा लेता है। ऐसा करने पर वह राजदण्ड से परोक्ष माना जाता है। प्रेक्षकों में जिसकी चाहे, वह आलोचना कर सकता है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि विदूषक की बात पर उसे दण्डित करने की चेष्टा करें। कला और साहित्य में पारंगत होने के कारण विदूषक अलंकारों और शब्द-चातुर्य द्वारा अपनी आलोचना को रोचक और अनुरंजित रूप दे सकता है। बोलते समय विदूषक मुँह में कुछ चवाता भी रहता है। कभी-कभी अपने यज्ञोपवीत को ठीक करता है, कभी अपनी शिखा को सँवारता है, कभी अपने अंगवस्त्र को निचोड़ने का अभिनय करता है। प्रायः वह नासिका-स्वर में बोलता है।

मेलात्तूर के भागवतमेले में, जो मन्दिरों के सम्मुख खेला जाता है, विदूषक को 'कोनंगी' कहते हैं और वह प्रायः एक वैष्णव-भक्त का अतिरंजित स्वरूप होता है। कोनंगी का अर्थ है वक्र, उसकी टोपी टेढ़ी होती है और मस्तक पर वैष्णव-तिलक, लम्बी दाढ़ी, नीला जामा, एक हाथ में माला, दूसरे में दर्शकों की कुदृष्टि से बचाव के लिए एक धवल वस्त्र, जिसके सिरे पर लाल रंग का दूसरा वस्त्र बँधा रहता है। कोनंगी अभिनय के बीच में दर्शकों को शान्त रहने का आदेश देता चलता है।

नटों की परम्पराएँ और व्यवसाय :

प्रायः अधिकतर आंचलिक नाट्यों में स्त्री-पात्रों की भूमिका में पुरुष ही उतरते हैं। मध्ययुग में दो परिस्थितियों के कारण शायद यह परम्परा चल पड़ी; क्योंकि प्राचीन युग में तो संस्कृत-रंगमंच पर निस्सन्देह स्त्रियाँ अभिनय करती थीं। पहली बात तो यह हुई कि मन्दिरों में नृत्य-नाट्य के प्रदर्शन के लिए जो देवदासियाँ अथवा नटियाँ रहती थीं, उनकी उपस्थिति के कारण मन्दिरों का वातावरण दूषित होने लगा। राजप्रासादों में जो रंगशालाएँ थीं, वहाँ तो नटियों के प्रेमचक्र की वार्त्ताओं से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। आठवीं

शताब्दी में दामोदरगुप्त के 'कुट्टनीमतकाव्य' में नटी-समाज का विशद वर्णन है। किन्तु, राजप्रासादों की रंगशाला के ह्रास के बाद मन्दिरों में नटियों का जमाव होने लगा, तब कुछ समय उपरान्त मन्दिरों का वातावरण बदलने की जरूरत पड़ी। उन्हीं दिनों दक्षिण में 'भागवतरो' और उत्तर में भक्तों और सन्तों ने मन्दिरों की रंगशालाओं को अपने हाथ में लिया। उन्हीं दिनों भागवत धर्म पर आश्रित सम्प्रदायवादी नाटकों का उत्कर्ष हुआ। भागवतरो और भक्तों ने स्त्री-पात्रों के पुरुषों द्वारा सम्पन्न किये जाने की व्यवस्था चालू की।

दूसरी परिस्थिति मुसलमानी राज्य की स्थापना के कारण पैदा हुई। फारसी परम्परा में नृत्य के लिए किशोरों को ही पसन्द किया जाता था। मुस्लिम-राज्यकाल में स्थानीय नटियों के लिए खुले आम प्रदर्शन करना वैसे भी कठिन होता चला गया। दिल्ली के आसपास जिन शैलियों का विकास हुआ—साँग, नौटंकी, ह्याल, माँच इत्यादि, उनपर मुस्लिम-संस्कृति का प्रभाव पड़ा ही और यों स्त्री-पात्रों की भूमिका में पुरुषों और बालकों के उतरने की पद्धति चालू हो गई।

इस सामान्य परिपाटी के कुछ अपवाद भी हैं। कूट्टियाट्टम् में स्त्री-पात्र नान्यार-कन्याओं द्वारा ही लिये जाते हैं। महाराष्ट्र के 'तमाशा' में भी स्त्रियाँ ही नटी का काम करती हैं। मिथिला का जट-जटिन-संवाद तो सर्वथा स्त्रियों का ही मनोरंजन और उनकी ही रंगशाला है।

परम्पराशील रंगमंच में नटों के व्यवसाय और उनके प्रशिक्षण की परिस्थिति सन्तोषजनक नहीं कहीं जा सकती। उत्तर कर्नाटक में १०वीं सदी में विरचित सभालक्षण नामक ग्रन्थ में नटों की शिक्षा के लिए कुछ आदेश दिये गये हैं। मिथिला में ज्योतिरीद्वर ठाकुर के वर्णनरत्नाकर का जिक्र में पहले ही कर चुका हूँ। केरल में अट्टप्रकार नामक ग्रन्थ में पद्य-संवादों को मुद्राओं और अभिनयों द्वारा प्रकट करने की पद्धति समझाई गई है। किन्तु, ग्रन्थों की अपेक्षा गुरु के निर्देशन में नट अपनी शिक्षा पाते हैं। केरल के ईसाई-नाट्य 'चविट्टु' के लिए नाना प्रकार के अस्त्रशस्त्रों का संचालन और विविध व्यायाम सीखने होते हैं।

दक्षिण में नटों की शिक्षा-प्रणाली जितनी विधिवत् है, उतनी उत्तर में नहीं। साँग, माँच, ह्याल इत्यादि में प्रदर्शन के समय ही नौसिखिया गुरु से आदेश पाता है। हाँ, ब्रज की रासलीला में बालकों की शिक्षा की कुछ अधिक व्योरेवार व्यवस्था है, विशेषतः गान-पद्धति की।

नटों का व्यवसाय अनिश्चित ही माना जायगा। अधिकतर मण्डलियों में भोजन और कपड़े की व्यवस्था होती है और थोड़ा बहुत ऊपर से द्रव्य दिया जाता है। तमाशा में खेल के बाद थारी फिराने की प्रथा है। आगे की पंक्ति में बैठे हुए दर्शक प्रायः गीतों की पुनरुक्ति कराते हैं और प्रतिस्पर्द्धा में बीसियों रुपये निछावर कर देते हैं। रासलीला और रामलीलाओं में प्रदर्शन के बाद आरती होती है और उस समय प्राप्त दक्षिणा नटों में बाँटी जाती है।

नाट्य-संगीत :

परम्पराशील नाट्य में गान भावाभिव्यंजना का मुख्य साधन है, गद्य-संवाद कार्य-व्यापार को आगे बढ़ाने का माध्यम तथा नृत्य अलंकरण द्वारा वातावरण का प्रेरक। इन तीनों के यथोचित सम्मिश्रण से ही इस नाट्य की उद्भावना होती है। पाश्चात्य देशों में ड्रामा, बैले और ओपेरा—ये तीन विभिन्न विधाएँ पिछले तीन सौ वर्षों में विकसित हुई हैं। हमारे यहाँ हाल तक इस तरह का विभवतीकरण था ही नहीं। भारतवर्ष में मिश्रित विधा के प्रचलन का एक तो कारण है हमारे जीवन-दर्शन में सामंजस्य की प्रधानता और दूसरे, हमारे कला-सिद्धान्त में रस का सर्वसंग्रही उद्देश्य। किन्तु, सिद्धान्तपरकता के अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी कलाकारों और प्रेक्षक-समाज दोनों को गान, संवाद और नृत्य के सम्मिश्रण में ही सुविधा रही है। बात यह है कि प्रायः सभी आंचलिक नाट्यों में लिखित सामग्री (स्क्रिप्ट) सम्पूर्ण नहीं होती। सांग, नोटकी और जात्राएँ तो अब भी लिखी जाती हैं, किन्तु प्रायः नाटक का सम्पूर्ण रूप स्मृति और आशुशक्ति पर अवलम्बित रहता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी कण्ठों से ये गीत मुखर होते रहते हैं। संवाद यथावसर जोड़ लिया जाता है। मौखिक पद्धति में आसानी यह है कि प्रेक्षकों की बदलती अभिरुचि के अनुसार गीतों की धुनें और छवियाँ भी बदली जा सकती हैं। यानी, परम्परा को कायम रखने के साथ उनकी ग्रहणशीलता नहीं खोई जाती। दूसरे मन्दिरों और मठों के कलाकारों को छोड़कर अधिकतर नट-नटी सुसंस्कृत और ज्ञानी होते हुए भी लिखने से अनभिज्ञ होते हैं, और उनके लिए गीतों को याद रखना आसान होता है। तीसरे, इन नाट्यों का प्रदर्शन प्रायः गाँवों में होता है, जहाँ हाल तक याता-यात की सुविधाएँ अत्यन्त सीमित थीं। अतः, रंगप्रदर्शन यदि रात्रि में भोजन के बाद प्रारम्भ होता था, तो उसका रात-भर चलते रहना जरूरी था, ताकि दर्शक-समाज—विशेषतः स्त्रियों को मध्यरात्रि में दूर-दूर पैदल न लौटना पड़े। नाटक यदि केवल संवाद और कथानक पर ही आश्रित रहे, तो दो-तीन घण्टों में ही समाप्त हो जाय। अतः, नृत्य और गीतों का प्राचुर्य, छोटे कथानक के दायरे को भी विस्तृत कर देता है एवं दर्शकों को सुविधा और तृप्ति दोनों ही उपलब्ध हो जाते हैं। चौथी बात यह है कि जिस मध्य युग में ये नाट्य-शैलियाँ पनपीं, वह सामन्तों और राजा-महाराजों का युग था, जो अपने धन और संरक्षण द्वारा अपने तथा अपने वर्ग के लोगों के मनोरंजन के लिए बड़े-से-बड़े नर्तकों और गायकों को रख सकते हैं। मध्ययुग के भारतीय समाज में यह विशेषता थी कि उच्च वर्ग के लोगों ने अपने मनोरंजन के लिए कक्ष-कला (चेम्बर आर्ट) को ही प्रोत्साहन दिया, सामान्य कला की उपेक्षा की; संगीत दीवाने खास की चीज हो गई, दीवाने आम की नहीं। जिस विशाल परिप्रेक्ष्य में प्राचीन नृत्य और संगीत का उल्लास उमड़ता था, उसकी छोटी-छोटी टुकड़ियों को अन्तःपुर के नाजुक नूपुरों में परिवर्तित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि जनसाधारण को संगीत और नृत्य का रसास्वादन कराने का उत्तरदायित्व परम्पराशील नाट्य पर पड़ा। अतः, इन नाट्यों के कथानक की आवश्यकताओं के बिना भी



राजस्थान का ख्याल : तेजाजी



संगीत और नृत्य का प्रचुर समावेश होता गया और यों सर्वसाधारण के मनोरंजन और कला की माँग पूरी की गई।

फिर भी, यह विचार गलत होगा कि परम्पराशील नाट्यविधाओं में संगीत केवल भरती का ही होता है। संगीत की कर्मगत उपयोगिता (फंक्शनल यूज) भी है। मृदंग और ढोलक को ही लें। नगाड़े और मृदंग की उनके दर्शकों को एकत्र करने का आमन्त्रण और प्रदर्शन के प्रारम्भ की घोषणा होती है। दूसरे, दृश्य-परिवर्तन के लिए पदों तो होते ही नहीं, ढोलक एवं अन्य पुष्कर-बाद्य ही पात्रों को एक प्रसंग से दूसरे, एक संवाद से दूसरे की ओर मुड़ने का संकेत देते हैं। यह संकेत-प्रणाली कहीं-कहीं काफी जटिल होती है। तीसरे मृदंग और ढोलक के स्वर संवाद के स्वरों की अनुगूँज (कन्फर्मेशन ऑव बिट्स ऑव ए डायलॉग) का काम भी करते हैं। भावाविष्ट वाक्य के बाद वादक नगाड़े पर एक टुकड़ी में उसी की पुनरुक्ति करता है, गीत की झड़ी में सन्निहित ताल को मानों मृदंग की थाप सुस्पष्ट करती है। सांग और नौटंकी में तो अक्सर नगाड़े और ढोलकी की ताल में मानवीय स्वर की गति प्रतिबिम्बित होती है। खड्गों की टकराहट, घोड़ों की टापें मानों मृदंग में ही प्रतिध्वनित होती हैं। तात्पर्य यह है कि तालसंगीत आंचलिक नाट्य में संवाद का विस्तार है, उसका दीर्घाकरण (एक्सटेंशन ऑव द डायलॉग) है।

अब गीतों को लीजिए। अनेक नाट्यों का अध्ययन करने के बाद मुझे रंग-गान के दो प्रकार दीख पड़े—एक तो वार्त्तिक (यानी नैरेशन) और दूसरा गीत्यात्मक (यानी लिरिकल)। वार्त्तिक गान के रागों की संख्या एक नाट्य में एक या दो से अधिक नहीं होती। उसे एक तरह से नाटक-विशेष की मूल धुन कह सकते हैं। वार्त्तिक-गान का व्यवहार सूत्र-धार नाटक के विभिन्न अंगों को जोड़नेवाली कड़ी के लिए करता है, कभी-कभी जैसे रास-लीला में दो पात्रों के बीच प्रश्नोत्तरी के लिए भी वार्त्तिक-गान का ही प्रयोग होता है। गीति-प्रधान (यानी लिरिकल) गान अनेक होते हैं और विविध रागों में निबद्ध। एक नाटक में बीस-तीस राग तक मँने पाये हैं। ये गीत पात्र या परिस्थिति के अनुकूल रस का उत्कर्ष करते हैं और साथ ही कथन-गीत या वार्त्तालाप का काम भी करते हैं।

प्राचीन काल से ही देशी, यानी स्थानीय और मार्गी, यानी शास्त्रीय रागों का भेद रहा है और परम्पराशील नाट्य-विधाओं में दोनों प्रकार के रागों का व्यवहार होता रहा है। इस समय तो जिन रागों को देशी कहा जाता है, वे भी उतने ही शास्त्रीय प्रतीत होते हैं, जितने शास्त्रीय राग; यथा मारवा, काँगड़ा, सोरठ, गुंजरी। निस्सन्देह अंचलविशेष में जनसाधारण में प्रचलित धुनों को ही नाट्य के प्रयोजन के लिए थोटों में बाँधा गया। कालान्तर में आज ये राग में उतने ही अभिजात प्रतीत होते हैं, जितने बागेश्वरी, आसावरी, भैरव इत्यादि। यह प्रक्रिया लोकनाट्यों में बराबर चलती रही है। मुझे सन् १८८० ई० के आसपास की, ब्रजभाषा में लिखे एक रूपक की, पाण्डुलिपि मिली है, जिसमें तत्कालीन प्रचलित धुनों के आधार पर गीत निबद्ध हैं। अब भी नौटंकियों और विदेसिया इत्यादि नाट्यों में राग के नाम के स्थान पर 'धुन' या तर्ज का उल्लेख होता है, यथा : 'तर्ज राघेश्याम' अथवा 'मेरे मौला बुला लो मदीने मुझे।' लेकिन, धुनों को

रागनिबद्ध करने की यह प्रथा इतनी पुरानी और मँजी हुई है कि वर्तमान धुनों को यदि छोड़ दें, तो अन्य लगभग सभी देशी धुनें नाट्यनिबद्ध होने के बाद कालान्तर में शास्त्रीय रागों के समान ही विधिवत् और अलंकृत हो गईं, चलतीं तर्जें भी नाट्य की गीतमाला में गुंथने के उपरान्त संगीत की स्थायी सम्पत्ति बन गईं। इसलिए, दक्षिण भारत में भागवतमेल का संगीत उतना ही उत्कृष्ट और पाण्डित्यसूचक माना जाता है, जितना अन्य शास्त्रीय संगीत।

किन्तु नाट्य-गान और शास्त्रीय गान में एक बुनियादी अन्तर यह है कि उत्तर भारत में शास्त्रीय गान में स्वर का अलंकरण, तान, मुरकियाँ, मूच्छना इत्यादि प्रधान हो गये और शब्द और अर्थ गौण माने जाने लगे। मुगल-काल में राग का प्रत्यक्षीकरण इन अलंकारों का प्रदर्शन ही माना जाने लगा। जो उस्ताद वारीकी और सफाई के साथ अपने स्वरों से जितने ही अधिक चमत्कार प्रस्तुत कर सकता, वह उतना ही ऊँचा कलादन्त समझा गया। आज दिन हम रागों की ख्याल-पद्धति में ही शास्त्रीय संगीत का परिपाक मानते हैं। परिणाम यह है कि उस्ताद और गुणी शब्द और अर्थ की महत्ता के प्रति उदासीन हो गये। गीत की पंक्तियाँ इतनी गौण हो गईं कि 'गावत राग हम्मीर' इन तीन शब्दों के सहारे ही समूचे राग हम्मीर की रूपरेखा प्रस्तुत की जाने लगी। परन्तु, अधिकतर रागों का मूल उद्देश्य रस-विशेष को प्रकट करना था और इसके लिए पद्य के आशय को समझना अनिवार्य था। ख्याल-पद्धति और ध्रुवपद-पद्धति में यही मौलिक अन्तर है।

यहाँ 'ध्रुव' शब्द पर कुछ विचार करना जरूरी जान पड़ता है। परम्पराशील नाट्यों में ध्रुव शब्द प्रायः टेक या स्थायी के लिए प्रयुक्त हुआ है। जयदेव के गीतगोविन्द में 'ध्रुव' का अत्यन्त स्पष्ट निर्देशन मिलता है और उसके बाद जो संगीतक लिखे गये, उनमें गीतों की पहली दो पंक्तियाँ 'ध्रुव' कही गई हैं और बाकी पंक्तियाँ 'पद'। असम के अंकिया नाट और मिथिला एवं नेपाल के कीर्तनियाँ नाटकों में ध्रुव और पद का यह क्रम निरन्तर दीख पड़ता है। इसी पद्धति का पालन दक्षिण के भागवतमेल नाटकों में, जो आन्ध्र और तमिलनाडु में प्रचलित हैं, पाया जाता है। तंजौर की सरस्वतीमहल-लाइब्रेरी में मुझे १८वीं सदी में रचे गये दो ऐसे गद्य-नाटकों की पाण्डुलिपियाँ देखने को मिलीं, जो ब्रज-भाषा में रचे गये थे, यद्यपि लिपि उनकी तेलुगु है और शायद उन्हें रंगशाला में प्रस्तुत करने-वाले नट-नटी तमिलनाडु-निवासी रहें होंगे। इनमें टेक के लिए 'दरबु' शब्द लिखा गया है जो ध्रुव का ही अपभ्रंश है। मेलात्तूर ग्राम के नाट्य में भी ध्रुव के लिए 'दरबु' शब्द और गीत की अन्य पंक्तियों के लिए 'पद' का व्यवहार होता है। मेरा अनुमान है कि जयदेव के गीतगोविन्द की लोकप्रियता के फलस्वरूप ११वीं से १५वीं शताब्दी के बीच रंगप्रदर्शन के लिए नाट्य-गीतों में ध्रुव और पद का यह क्रम इतना व्यापक हो गया कि जब मुगल-दरबार में ख्याल-पद्धति का विकास हुआ, तब प्राचीन शब्द-प्रधान राग-पद्धति को 'ध्रुवपद' की संज्ञा दी गई है। इस 'ध्रुवपद-पद्धति' के आकार को अक्षुण्ण रखने के लिए उसे तानों से मुक्त रखा गया। इसी तरह शब्दों का सम्यक् उच्चारण हो सकता था। स्पष्ट है कि ध्रुवपद में शब्दों के सही उच्चारण पर जोर उनके नाट्यमूलक उद्भव के कारण ही है।

भरत के नाट्यशास्त्र में एक और शब्द मिलता है—‘ध्रुवा’। डॉ० राघवन का कथन है कि ध्रुवा पात्रों के प्रवेश और निष्क्रान्ति के अवसर पर गायक-मण्डली द्वारा गाये जाते थे। कभी-कभी ध्रुवा किसी विशेष नाट्यसन्धि को स्पष्ट करने के लिए, कभी किसी प्रसंग को अग्रसर करने के लिए और कभी कथानक में तनाव की परिस्थिति को ढील देने के लिए और कभी कथानक में रिक्त अवधि को पूरा करने के लिए ध्रुवागीतियों का गान होता था। मेरा विचार है कि ध्रुवा शब्द उन गानों के लिए प्रयुक्त होता था, जो गायक-मण्डली गाती थी और ये गान उन गीतों से भिन्न थे जो पात्राभिनय करनेवाले नट-नटी स्वयं संवाद के रूप में गाते थे। शायद जिन्हें मैंने अन्यत्र वार्त्तिकगान कहा है, वही ध्रुवा थे और जिन्हें गीतिप्रधान गान कहा है, वही ध्रुवपद थे। कालान्तर में यह अन्तर धुँधला पड़ गया है।

फिर भी, किसी-न-किसी प्रकार की ‘टेक’ का सहारा सर्वदा नाट्य-प्रदर्शन में अनिवार्य रहा। उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मालवा के नाट्यों में ये टेक गान-मण्डली ही उठाती है। कुछ शैलियों में टेक के स्थान पर कुछ ध्वनियाँ बार-बार गाई जाती हैं, जिन्हें अगरेजी में ‘ड्रोन’ कह सकते हैं और जो तानपुरे पर बजाये जानेवाले समस्वर के समान होती हैं। राजस्थान के ख्याल-नाट्य में अभिनेता प्रायः ‘मेरे भैया’ इन शब्दों को एक धुन के रूप में बार-बार दुहराता है। महाराष्ट्र के ‘तमाशा’ नाट्य में गान-मण्डली ‘जी जी जी’ इस शब्द की धुन की इतने ऊर्ध्व स्वर में पुनरुक्ति करते हैं कि उसमें और उनके एकतारे के स्वर में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता है।

आंचलिक नाट्यों में गीतों के छन्द लय और गति के अनुसार उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—भक्तिगान वा वैष्णवगान, जैसे बंगाल की जात्रा के कीर्तन; वीरगान, जैसे महाराष्ट्र का पवाड़ा (जो बिहार के पवाड़े से मिलता जुलता है) और शृंगारमूलक गान, जैसे राजस्थान की लावनी। तीनों प्रकार के गीतों में उनके भावना के अनुकूल छन्दों और शब्दालंकारों का प्रयोग होता है। वैष्णव-नाट्यकारों ने, जिनमें असम के सन्त और ब्रज की रासलीलाओं के रचयिता भक्त प्रमुख हैं, वर्णों के ध्वनि-प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया।

नृत्य के प्रयोग :

गान के इस पक्ष का नाट्य के नृत्य से विशेष सम्बन्ध है। परम्पराशील नाट्य में नृत्य का प्रयोग प्रायः तीन परिस्थितियों में किया जाता है—(१) किसी प्रसंग या दृश्य को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए या यों ही प्रेक्षकों के सामने एक चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने के लिए, (२) कथनोपकथन के किसी अंश को प्रदीप्त करने के लिए, जिसमें नृत्य को या तो संवाद में गूँथा जाता है या कथन के बाद उसका विस्तार करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है और (३) पात्रों के प्रथम प्रवेश पर उनके शील का परिचय देने के लिए।

भारतवर्ष के विभिन्न आंचलिक नाट्यों में मैंने दृश्य-नृत्य, कथन-नृत्य और प्रवेश-नृत्य, इन तीन विधाओं को किसी-न-किसी रूप में प्रस्तुत किये जाते देखा है। यह तो मैं नहीं कह सकता कि कला की दृष्टि से सभी रंग-प्रणालियों के नृत्य मनोरम हैं।

पंजाब और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सांग और सांगीत तथा नौटंकी के नृत्य मुझे कला की दृष्टि से अत्यन्त हीन जँचे। रासलीला के नृत्य भी इस नाट्य-परम्परा के साहित्यिक पक्ष की उत्कृष्टता को देखते हुए चलताऊ जान पड़े। नृत्य की परम्परा तो दक्षिण और पूर्वोत्तर प्रदेशों में सर्वाधिक शास्त्रसम्मत और चमत्कारपूर्ण जान पड़ती है।

दृश्य-नर्तन की ग्राम-सुलभ वानगी पूर्णिया जिले के 'विदापत नाच' नामक नाट्य-शैली में भी मिलती है, यद्यपि उसकी महत्ता किसी प्रकार के कलात्मक सौन्दर्य में नहीं, अपितु नाट्य में है, नर्तन के दृश्य-पक्ष की स्थापना करने में है। 'विदापत नाच' के पारिजातहरण-लीला के प्रारम्भ में पहले रास होता है। सूत्रधार से विदूषक पूछता है कि पारिजात-लीला तो कृष्ण के द्वारका-काल की कथा है, उसमें रास कैसे? सूत्रधार उत्तर देता है कि हरेक नाट्य से पहले भगवान् की नृत्यलीला होनी जरूरी है। जैसे मैंने अन्यत्र कहा है, दृश्य-नृत्य, किसी प्रसंग-विशेष के भाव को और भी सजीव और सारगर्भित रूप में प्रकट करने के लिए भी किये जाते हैं। केरल में ईसाइयों के चर्चिट्टु नाटकम् में क्रुसेडों के जमाने में ईसाई वीरों और मुसलमान-विजेताओं के द्वन्द्वयुद्ध दिखाये जाते हैं। जब सलादीन और चार्लमैन की सेनाओं की मुठभेड़ होती है, तब नट अपने पदाघातों के क्रम से युद्ध का वातावरण उपस्थित कर देते हैं। वस्तुतः, युद्धदृश्यों का प्रदर्शन प्रायः सभी आंचलिक नाट्य में नृत्य की तालों और मुद्राओं द्वारा ही होता है।

कथन-नृत्य परम्पराशील नाट्य की रीढ़ हैं और उनका आधार है भरत के नाट्य-शास्त्र के चतुर्थ अध्याय में दिये गये निर्देश। नाट्यशास्त्र में हस्तमुद्राओं को करण कहा गया है और प्रत्येक करण एक-न-एक बिम्ब का परिचायक है। करणों के समुदायों को 'अंगहार' की संज्ञा दी गई है, जिनकी संख्या ३२ है। मुखमुद्राओं को अभिनय कहा गया है। नृत्य का चौथा अंग या आधार है ताल। इन चारों अंगों का उपयोग कुछ ऐसे ही होता है, जैसे वाक्यों में शब्दों, पदों इत्यादि का और वाक्यों की भाँति नृत्य अर्थ के वाहक हैं। कथन-नृत्य का सबसे सार्थक और संश्लिष्ट उपयोग आन्ध्रप्रदेश के कुचुपुडि नाट्य में देखा गया है। उसके भामाकलापम् में एक ही प्रसंग और एक ही रस की निष्पत्ति मुख्यतः नृत्य के द्वारा होती है, कुछ ऐसे ही, जैसे फिल्म में 'क्लोज-अप' के द्वारा भावों की परिस्थितियों को दिखाया जा सकता है। कथन-नृत्य में कभी पदक्षेप की क्षिप्र अथवा मन्थर गति से भी कथन की पुष्टि की जाती है। गुजरात की भवई में रंगीला-रंगीली इसी प्रकार का नर्तन करते हैं, जो कथक से थोड़ा बहुत मिलता-जुलता है।

प्रवेश-नृत्य का एक उल्लेखनीय उदाहरण है कश्मीर के 'भांडजशन' का नृत्य। बादशाह रंगशाला में आता है, उसके पीछे-पीछे उसके दरबारी, एक जमीन्दार, सेनापति, सिपाही इत्यादि। हरेक पात्र की गति और चलने की भंगिमा उसके चरित्र को व्यक्त करते हैं। उनकी हस्तमुद्राओं में कुछ शास्त्रीय करणों के चिह्न भी दीख पड़ते हैं। प्रवेश करने के बाद पात्र जोड़ियों में दोनों तरफ घूम जाते हैं, प्रत्येक के हाथ में कपड़ा होता है, जिसे 'पल्लव' कहते हैं। उसके बाद सब पात्र वृत्त बनाकर खड़े हो जाते हैं।

भाँड़जशन की अपेक्षा कूटियाट्टम् और असम के अंकिया नाट में प्रवेश-नृत्य कहीं अधिक संश्लिष्ट और कलापूर्ण होते हैं। दोनों में ही पात्रों का यह प्रयास रहता है कि वे अपनी गति और भंगिमा द्वारा अपनी स्वभावगत विशेषताओं को प्रेक्षक तक पहुँचा दें। रुक्मिणीहरण नाट में कृष्ण और रुक्मिणी संग-संग प्रवेश करते समय जो नृत्य करते हैं, उसमें करणों और मुद्राओं द्वारा श्रीकृष्ण के प्रारम्भिक जीवन, गोकुल में उनके पराक्रम इत्यादि की गाथाओं का प्रत्यक्षीकरण होता है। उसी नाटक में जब रुक्मिणी के माता-पिता प्रवेश करते हैं, उनकी गम्भीर गति में उनके वय और गाम्भीर्य की सूचना मिलती है, थोड़ी देर बाद उनका उद्धत पुत्र स्वयं प्रवेश करता है, तो उसके प्रवेश-नृत्य की ताल तीव्र और उसका पदाघात तेज और कठोर होता है। नृत्य स्वभाव को सहज ही प्रकट कर देता है, वाणी के पहले ही।

कुछ नाट्यों में प्रवेश-नृत्यों को जानबूझकर विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाता है और जैसे रुक्मिणीहरण में प्रवेश-नृत्य में कृष्ण के पूर्वचरित का चित्रण किया गया है। ऐसे ही लगभग हर पात्र के पूर्वचरित और स्वभाव को नृत्य द्वारा व्योरे के साथ चित्रित किया जाता है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इस तरह के नाट्य में संवाद की महत्ता कम हो गई। कथानक का स्पष्टीकरण भी जरूरी नहीं रह गया। रंगप्रदर्शन का मुख्य उद्देश्य रह गया अभिनय, ताल और पदक्षेप के माध्यम से नायकों के चरित-प्रसंगों और शील का निरूपण और गायक-मण्डली द्वारा तद्विषयक गान। इन नृत्याभिनयों में नृत्य ही प्रश्नोत्तर का रूप लेते हैं और प्रायः दो नर्तकों में बलप्रदर्शन, स्पर्धा का उत्कर्ष, एक दूसरे के लिए अपशब्द ये सभी नृत्यमाला के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। आजकल जिस कथकली नृत्य की इतनी चर्चा है, वह वस्तुतः सम्पूर्ण नाट्यों के प्रवेश-नृत्यों की शृंखला-मात्र हैं।

कथकली और आजकल जिसे भरत-नाट्य कहा जाता है, तथा कथक नृत्य इन तीनों के वर्तमान रूप कितने ही सुन्दर और कलापूर्ण हों, पर हैं तो आखिर खण्ड-मात्र ही। उनका वास्तविक स्वरूप नाट्य में ही प्रत्यक्ष हो सकता है; क्योंकि परम्पराशील नृत्य, वस्तुतः परम्पराशील नाट्य का ही अंग है, इससे पृथक् उसकी सत्ता समीचीन नहीं कहीं जा सकती।

रस-निरूपण और सम्प्रेषण-पद्धति :

भाषानाटक कई प्रकार के प्रेक्षकों को लक्ष्य करके रचे गये। सहृदय कलामर्मज्ञ और रुचिसम्पन्न दर्शकों का मनोरंजन और रसप्लावन के लिए शास्त्रसम्मत भावानुभाव-प्रदर्शन और रसप्रेरक स्थितियों की योजना की गई। दूसरे प्रकार के प्रेक्षक थे वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुगामी भक्तजन, जिनकी प्रवृत्ति भगवद्-रति की ओर उन्मुख थी और नाटककार का उद्देश्य था उनकी वृत्तियों को सचेत करके रसानुभूति के माध्यम से उनकी भगवद्भक्ति को पुष्ट करना। स्थूल शृंगार के प्रदर्शन को आध्यात्मिक रसानुभूति का माध्यम बनाना। यह वैष्णव नाटककारों का अद्भुत और अभूतपूर्व प्रयास था और उनकी अनुपम उपलब्धि भी। यह कैसे हो पाया?

भरत के अनुसार नाट्य-रस की विशेषता यह है कि उसमें भाव को नाना प्रकार के अभिनय से सम्बद्ध करके रस की अभिव्यक्ति वैसे ही की जाती है, जैसे नाना प्रकार के

भोजन-पदार्थों को मिलाकर व्यंजन पैदा किये जाते हैं। जिस तरह व्यंजनों से स्वाद का आनन्द मिलता है, उसी भाँति अभिनय-समन्वित भावों से रसास्वादन का आनन्द प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ के श्लोक, संख्या ३३, ३४ और ३५ में अभिनय से सम्बद्ध भावाभिव्यक्ति द्वारा रस की निष्पत्ति विचारणीय है। 'भावाभिनयसम्बन्धात्', 'भावयन्ति, रसाभिनयैः सह'—इन पदों में अभिनय और भाव के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पर बल दिया गया है। नाट्य-रस का संचार भाव और अभिनय के समन्वय से सम्भव है, अन्यथा नहीं।

परवर्ती लक्षणकार और रससिद्धान्त के अधिकतर आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट भाव और अभिनय के समन्वय से दूर हट गये। उन्होंने काव्य-रस के आस्वादन को आत्मानन्द अथवा आध्यात्मिक तल्लीनता के समान माना। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार^१ आत्मवादी मत के पोषक इन विद्वानों की दृष्टि में काव्यानन्द उसी भाँति निर्विशिष्ट होता है, जैसे ब्रह्मानन्द, यानी उसमें आस्वादन की विविधता, हर्ष, भय, रति इत्यादि विभिन्न भावों की पृथक्-पृथक् अनुभूति के स्थान पर एक निर्विशिष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है। यह निर्विशिष्ट आनन्द ही रस का चिन्मय अंग है, जिसका रसानन्द में प्राधान्य होता है और जिसकी अपेक्षा उसमें मृण्मय अंश कम होता है। मेरा अनुमान है कि इस आत्मवादी मत में वैविध्य के परिहार पर जो जोर दिया गया है, उसका तात्पर्य भावों की विविधता के एकीकरण से नहीं होना चाहिए था, वरन् प्रेक्षक के व्यक्तिगत इन्द्रियबोध के लोप से। नाट्य में जिन भावों का सम्प्रेषण किया जाता है, प्रेक्षक के मानस में उनका उदय और उत्कर्ष उसकी अपनी इन्द्रियों की प्रक्रियाओं द्वारा नहीं होता। वस्तुतः, कवि द्वारा प्रस्तुत शब्द-सौन्दर्य एवं नट द्वारा प्रस्तुत अभिनय-कला दोनों मिलकर ही उसे रति इत्यादि भावों की चरम अनुभूति करा देते हैं। चूँकि अपनी निजी इन्द्रियों के साधन के बिना प्रेक्षक को भावोल्लास की प्राप्ति होती है, इसलिए उसके व्यक्तित्व की पृथक् सत्ता का बोध प्रेक्षागृह में उसे नहीं रहता। सभी प्रेक्षक मानों एक सामान्य मानसिक वातावरण में रम जाते हैं। इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। विविधता के परिहार से यही तात्पर्य है कि प्रेक्षकों की विविध अनुभूतिशील सत्ताएँ एक साधारणीकृत भावबोध में समा जायँ। यही रसानन्द की निर्विशिष्टता है।

लेकिन, इसका आशय यह नहीं है कि जिन विभिन्न भावों को कवि और नट प्रेक्षक तक पहुँचाते हैं, उनकी अपनी विशेषताएँ ही रसानन्द की घड़ी में गायब हो जाती हैं। आत्मवादी पण्डितों ने हर्षादि आठों भावों की चरम अनुभूति को एक ही प्रकार का 'आनन्द' माना। भरत के शब्द 'हर्षादि' में उन्होंने 'आदि' की अवहेलना कर रति, भय, जुगुप्सा इत्यादि भावों की विशिष्टता को भुलाकर 'हर्ष' को आध्यात्मिक तल्लीनता अथवा चिदानन्द का लगभग पर्याय ही मान लिया। उन्होंने रसानन्द के चिन्मय अंश की प्रधानता का अर्थ लगाया—भावों की विविधता का लोप। यह भ्रम था। रस की चिन्मयता के माने हैं प्रेक्षक की अनुभूति में उसकी इन्द्रियजन्य प्रक्रिया का अभाव। व्यक्तिगत इन्द्रियबोध न होने के कारण ही व्यक्ति (प्रेक्षक) की सत्ता प्रेक्षागृह के सामान्य अथवा साधारणीकृत

बोध में समाविष्ट हो जाती है। पर, प्रत्येक भाव की विशिष्टता बराबर रहती है। यह विशिष्टता कवि और नट की कला के सामंजस्य की देन है। वस्तुतः, दृश्यकाव्य में स्थूलता और विविधता बराबर रहती हैं। अभिनय द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करते समय नट अपने अंगों और कतिपय इन्द्रियों के संचालन से विभाव, अनुभाव, संचारी इत्यादि का नियोजन करता है। वाणी और स्वर, मुद्रा और अंगप्रक्षेप ये सभी अर्थ-विशेष और भाव-विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए तदनुकूल प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रेक्षक के हृदय में जो उद्वेग इसके परिणामस्वरूप उदय होता है, वह भी उसी भाव-विशेष का परिचायक होता है। आत्मवादी रस-पण्डितों का अभिनय-कला से व्यावहारिक सम्पर्क कम होने के कारण नाट्य के स्थूल और विविध उपकरणों की महत्ता को उन्होंने नहीं समझा। अतः, भरत द्वारा निर्दिष्ट रसानन्द की इस कलात्मक आधारशिला की उन्होंने उपेक्षा की और उसे आध्यात्मिक उपलब्धि का रूप देने लगे।

नाट्य-रस अपने में आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं है, किन्तु मध्ययुग के उन सन्त और वैष्णव नाटककारों ने, जिनकी शैलियाँ वर्तमान परम्पराशील नाट्य का बहुत बड़ा अंग हैं, उसे आध्यात्मिक सन्देश का साधन बनाया। नाट्यानन्द अथवा नाट्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया और उसके प्रभावस्वरूप प्रेक्षगृह में भावलोक के साधारणीकरण का उन्होंने अद्भुत उपयोग किया और यों नाटक को आध्यात्मिक प्रेरणा का माध्यम बनाने की एक ऐसी पद्धति कायम की, जिसकी आत्मवादी रसपण्डितों ने भी कल्पना नहीं की थी। उन्होंने देखा कि नाटक के प्रदर्शन में कवि के शब्दसौष्ठव एवं नट के अभिनय-कौशल से जो रस-प्रवाह होता है, वह प्रेक्षक के मानस में एक ही साथ दो तरह की स्थिति उत्पन्न कर देता है : एक तो कला के स्थूल सौन्दर्य से स्फुरित चेतना, और दूसरी (साधारणीकरण के परिणामस्वरूप) अहं की विलुप्ति।

“यह विलक्षण मनःस्थिति, जिसमें एक ओर तो भौतिक अनुभूति सजगता की चरमावस्था पर होती है और दूसरी ओर प्रेक्षक का अहं—अपनी पृथक्ता का बोध, एक साधारणीकृत अनुभूति में थोड़े समय के लिए विलय हो जाता है, अध्यात्म के बीजारोपण के लिए उर्वरा भूमि होती है। मध्ययुगीन सन्तों ने रस-प्रक्रिया की इस उपलब्धि से फायदा उठाया। उन्होंने नाट्य-रस के फलस्वरूप अहं के अस्थायी लोप या ‘सस्पेन्शन’ को भक्ति-प्रेरणा, आध्यात्मिक विलास और अलौकिक भगवत्स्वरूप के दर्शन के लिए एक ‘द्वैस’ यानी भूमिका माना। रसानुभूति को इस भूमिका से ऊपर उठाकर प्रेक्षक की भगवद्भक्ति में प्रेरणा ही वह ‘ब्रह्मानन्द’-सहोदर अनुभूति है, जिसे कुछ विद्वानों ने भक्तिरस की संज्ञा दी है। ‘भक्तिरस’ एक अलग रस है या नहीं, इसपर काफी चर्चा हुई है और विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है। जहाँतक नाट्य का सम्बन्ध है, हमारे विचार में भक्तिरस एक पृथक् नाट्यरस नहीं है। वह तो विभिन्न रसों के परिपाक के फलस्वरूप सजग उस मानसिक स्थिति का भगवदनुमुख होना है, जिसमें अहं के लोप का आभास होता है। शृंगार, वीर, करुण इत्यादि रसों का आस्वादन भगवदनुमुखता के लिए भूमिका है, सोपान है,

परिणति नहीं। सन्त नाटककारों ने रसास्वादन को साधन माना, साध्य नहीं। उनका साध्य उसके बाद आता है। इसलिए जिस 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' की इतनी चर्चा होती रही है, वह वस्तुतः रसानुभूति के उपरान्त भगवदनुमुखी तन्मय स्थिति है।^१

परम्पराशील नाट्य की भक्तिप्रधान शैलियाँ (रासलीला, भागवतमेल, अंकियानाट, इत्यादि) इसी भगवदनुमुखी लवलीनता को लक्ष्य मानकर प्रेक्षक को रसनिमग्न करती हैं। इसलिए, प्रत्येक रथल पर किसी-न-किसी भाव को बार-बार दुहराकर, शब्दालंकारों, मुद्राओं, गान, नृत्य इत्यादि उपकरणों से प्रदीप्त कर प्रेक्षक को भावविह्वल किया जाता है। आधुनिक दृष्टि से जो गीतमय संवाद हमें अतिशयोक्तिपूर्ण और पुनरुक्तियों से दूषित जान पड़ता है, वह वैष्णव और सन्त-नाटककारों की दृष्टि में एक अनिवार्य साधन है। राधाकृष्ण की उद्दाम शृंगारलीला, हिरण्यकशिपु का प्रचण्ड रोष, कृष्ण के कालियहृद में कूद जाने पर यशोदा का विलाप—ये सभी प्रेक्षक को उस मनोदशा में ले जाने के तरीके हैं, जहाँ एक ओर तो वह कलात्मक सौन्दर्य से झूमने लगता है और दूसरी ओर अपने अहं को भूल जाता है। ऐसी स्थिति पैदा कर लेने पर भक्त नाटककार झट से भगवान् का गुणानुवाद और भगवद्भक्ति की महिमा का—(प्रायः सूत्रधार अथवा समाजी के मुख से, अथवा अन्य किसी पात्र के मुख से)—बखान करवाता है। उस मनःस्थिति में प्रेक्षक उस सन्देश को सहज ही ग्रहण कर पाता है, जैसे वर्षा से गीली की गई धरती में बीज डालने से प्रस्फुटन आसानी से हो जाता है।

भक्त नाटककारों ने रसनिरूपण को एक तरह की सम्प्रेषण-पद्धति (कम्यूनिकेशन प्रोसेस) बनाकर अपने सन्देश को प्रेक्षकों तक पहुँचाया। नाट्य द्वारा शिक्षा प्रदान का यह एक अनूठा प्रयोग था, अनूठा इसलिए कि सन्देश देने की प्रक्रिया काव्य-गुण के उत्कर्ष के विपरीत नहीं थी। शुष्क सन्देश और उद्बोधन का ताँता लगाकर रति, शौर्य, हास्य इत्यादि के प्रवाह को अवरोध नहीं किया गया, वरन् भावोदधि के भीषण उद्वेलन और मन्थन द्वारा ही भक्ति और ज्ञान का अमृत प्रस्तुत किया गया।

भक्त नाटककारों की इस सम्प्रेषण-पद्धति का प्रभाव अन्य परम्पराशील नाट्यविधाओं पर भी पड़ा। इस पद्धति के सन्दर्भ में परम्पराशील नाट्य में चरम भावुकता और घोर रसप्लावन के बीच उपदेशों और स्तुतियों के द्वीपों की स्थिति इतनी अस्वाभाविक नहीं लगती, जितनी प्रायः समझी जाती है।

१. यह उद्धरण मैंने अपने 'भाषानाटक-संग्रह' की भूमिका से लिया है।

देखिए : 'प्राचीन भाषानाटक संग्रह' : सं० श्रीजगदीशचन्द्र माथुर और डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी-विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय।

रंग-व्यवस्था

रंगशालाओं की स्थिति :

परम्पराशील नाट्य की रंगस्थली के विवरण में सबसे पहले मन्दिर और देवस्थान का उल्लेख अपेक्षणीय है। मन्दिर भारतीय समाज में केवल पूजन का केन्द्र नहीं रहा है, बल्कि सामुदायिक जीवन, मनोरंजन तथा कला-सौन्दर्य का भी। मन्दिर में कलाओं की अभिव्यक्ति द्वारा रसनिमज्जित भवत-हृदय धर्म और नीति के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अधिक सजग और सचेत हो जाता है।

जिस भाँति प्राचीन मन्दिरों की बाहरी भित्तियों तथा प्रकारम् पर तो अनेक प्रकार की मूर्तियाँ और चित्र अंकित रहते थे, किन्तु भगवान् की मूर्तिवाले गर्भगृह में नितान्त सादगी और अलंकरण-विहीनता होती थी, उसी प्रकार मन्दिर के बाहरी हिस्से में नट-मन्दिर में तो नाट्य और संगीत के विविध स्वर जंकृत होते रहते थे, जब कि गर्भगृह के निकट मन्त्रोच्चार और आरती का ही निर्घोष सुन पड़ता था। इसी दर्शन के आधार पर मन्दिरों में रंगशाला का निर्माण हुआ। धारवाड़ में मुगुड नामक स्थान में एक मन्दिर में सन् १०४५ ई० का एक शिलालेख है, जिसमें श्रीमान् महासामन्त मार्तण्डय्या द्वारा नाट्यशाला बनाये जाने का उल्लेख है। ग्यारहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी तक बराबर दक्षिण भारत के मन्दिरों में नट-मण्डप बनाने की परम्परा रही। जयदेव के गीतगोविन्द के प्रदर्शन की परम्परा ने मन्दिरों और रंगशाला का यह नाता स्थायी कर दिया। श्रीमद्भागवत से प्रसंगों को नृत्य-नाट्य में प्रस्तुत करना मन्दिर की कार्यप्रणाली का अभिन्न अंग बन गया।

आजकल नाट्य-प्रदर्शन के लिए रंगशालाएँ विशेषतः केरल में त्रिचूर के मन्दिरों में 'कूथाम्बलम्' के नाम से विख्यात हैं। असम के मठों में रंगशाला का नाम 'भाओनाघर' अथवा 'रभा' होता है। कूथाम्बलों की परम्परा कुलशेखरवर्मन् द्वारा दसवीं शताब्दी में प्रारम्भ की गई। कूथाम्बलम् लकड़ी अथवा पत्थर के बने मण्डप होते हैं और प्रायः लकड़ी, बाँस, खर इत्यादि से बनाये जाते हैं। ब्रजक्षेत्र में रासलीलाओं के लिए भी मन्दिरों के निकट छोटे रासमण्डप बनाने की प्रथा वर्षों से रही है और वृन्दावन में स्थान-स्थान पर इस तरह मण्डप बने हुए हैं। बरसाना और नन्दगाँव में गर्भगृह के सामने ही मण्डप में कभी-कभी लीलाओं का अभिनय होता था। तंजौर के निकट मेलात्तूर गाँव में नृसिंह-मन्दिर के सामने जो गली है, वहीं पर रंगशाला प्रति वर्ष बनाई जाती है। बंगाल में जात्रा का प्रदर्शन प्रायः मन्दिरों के ही अग्रहाते में होता है। गुजरात की भवई के कुछ प्रदर्शन आबू के निकट अम्बाजी के मन्दिर में किये जाते थे। इसी भाँति हिमालय के करियाला-नाट्य की व्यवस्था कभी-कभी स्थानीय लोक-देवता (जिन्हें 'वलराज' अथवा 'विज्जू देवता' कहा जाता है) के मन्दिर के निकट खेला जाता है।

मन्दिरों की रंगशालाओं में यह आवश्यक नहीं है कि केवल धार्मिक या साम्प्रदायिक नाट्यों का ही अभिनय हो। किन्तु, प्रायः यह अनिवार्य होता है कि नाट्योत्सव के पहले

और बाद में जिस देवता के मन्दिर के पास अभिनय हो रहा है, उसके पूजन की विशेष व्यवस्था हो। प्रायः मूर्ति को शोभायात्रा के साथ नाट्योत्सव के पहले बाहर लाया जाता है और उसके सम्मुख ही प्रदर्शन होता है। केरल और असम में ही विशेषतः मन्दिरों का सीधा उत्तरदायित्व इन नाट्यों के प्रदर्शन के विषय में होता है। अन्यत्र मन्दिरों से विशेष संरक्षण प्राप्त नहीं होता और नाट्योत्सव का आयोजन करनेवालों को धन इत्यादि की व्यवस्था करनी पड़ती है।

मन्दिरों के बाद ग्रामीण मेलों और उत्सवों के अवसर पर प्रायः आंचलिक नाट्य अभिनीत होते हैं। बिहार के सोनपुर मेले में तो बहुत पुराने जमाने से परम्पराशील नाटक प्रस्तुत करने की प्रथा रही है। प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ और इतिहासकार श्री ओ० सी० गांगुली का कथन है कि भगवान् बुद्ध के समय में भी मगध के मेलों में नाट्य-प्रदर्शन होता था। यहाँतक कि एक मण्डली ने आनन्द से भगवान् बुद्ध के जीवन पर आधारित नाटक-प्रदर्शन करने की अनुमति माँगने की भी धृष्टता की थी।

शामियानों तथा तम्बुओं में मेलों के अवसर पर रंगशाला बनाने की प्रथा महाराष्ट्र में रही है और दिल्ली में निजामुद्दीन के उर्स पर भी इस प्रकार के प्रदर्शन देखे गये हैं।

मेलों के अतिरिक्त विवाहोत्सव, पुत्रजन्म तथा इसी प्रकार के पारिवारिक प्रयोजनों के लिए भी पारम्परिक नाट्यों का प्रदर्शन होता रहा है। उत्तरप्रदेश और पूर्वी पंजाब में साँग और संगीत संरक्षकों के घरों के सामने तथा बरामदों में दिखाये जाते हैं। ब्रज की रासलीला-मण्डलियों को तो दूर-दूर तक विवाह तथा अन्य प्रकार के उत्सवों के लिए ठेके मिलते हैं। बीस वर्ष पहले तक रासलीला-मण्डलियाँ रंगून में भी लीला-प्रदर्शन के लिए जाया करती थीं। विदेसिया तथा भोजपुर-क्षेत्र की अनेक मण्डलियों की आमदनी हावड़ा के आसपास प्रदर्शन से ही होती है। इन ठेकों पर काम करनेवाली मण्डलियों के लिए थियेटर-हॉल नहीं होते। मुझे केवल दो ही थियेटर-भवन का ज्ञान है, जिन्हें परम्पराशील नाट्य-मण्डलियों के लिए उपलब्ध किया जाता है। पूना में एक मुसलमान सज्जन अब्दुल जम्बा महाराष्ट्र की तमाशा-मण्डलियों के लिए एक रंग-भवन रखे हुए हैं। वर्षाकाल में जब तमाशा-मण्डलियाँ विभिन्न नगरों में जाकर खेल नहीं दिखा सकतीं, तब अब्दुल जम्बा के रंगभवन में ही एक के बाद एक तमाशों के प्रदर्शन होते हैं। दूसरा ऐसा भवन मद्रास नगर के बाहर एक उपनगर में है, जहाँ मैंने 'मदुरा बॉयज' नामक एक पुरानी मण्डली द्वारा प्रस्तुत पौराणिक नाटक देखा। तमिलनाडु की ये मण्डलियाँ परम्परागत आंचलिक नाट्य से कुछ भिन्न पारसी थियेटर-परम्परा में अपने खेल दिखाती हैं।

परम्पराशील रंगशाला की एक सामान्य विशेषता यह है कि प्रायः बैंक-ग्राउण्ड और सीनरी इन रंगशालाओं में होते ही नहीं। सम्भव है, यदि मध्ययुग में राज्य का संरक्षण प्राप्त होता, तो यहाँ भी यूरोप की तरह सीन-सीनरीवाली रंगशाला विकसित हो जाती। किन्तु, इस तरह की भव्यता के साधनों के अभाव में परम्पराशील नाट्य में दो प्रकार का आन्तरिक सौन्दर्य विकसित हुआ। एक तो यह कि साधारण-से-साधारण नाट्य में भी शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-चमत्कार पर जोर डाला गया और इस तरह परम्पराशील नाट्य

परवर्ती भड़कीले नाट्य की अपेक्षा अधिक काव्यात्मक रहे। दूसरे, सादे बेंक-ग्राउण्ड के कारण वेश-भूषा में बहुरंगी चमत्कार प्रस्तुत किया जाने लगा और गीत और नृत्य द्वारा द्रष्टव्य को आकर्षक बनाने की चेष्टा होती रही।

रंगशालाओं के प्रकार और अंग :

परम्पराशील नाट्य के प्रेक्षक प्रायः खुले स्थानों में बैठते हैं, अथवा ऐसे मण्डपों में, जो चारों तरफ से बन्द नहीं होते। भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-मण्डप का कोई उदाहरण न रहने के कारण हम इन परम्पराशील नाट्यों के प्रदर्शन से ही प्राचीन वातावरण का कुछ अनुमान कर सकते हैं। उत्तर कर्नाटक में यक्षगान की एक शैली का नाम है 'बयलाट'। बयालु का अर्थ है खुला हुआ स्थान और आट के मानी है खेल अथवा लीला। कश्मीर और हिमाचल में शीत होते हुए भी प्रायः नाट्य-प्रदर्शन खुले में ही होते हैं। किन्तु, हिमाचल के 'करियाला' में प्रायः दर्शकों के निकट अग्नि जलाकर रखी जाती है और वहीं मुद्ग और ढोल बजानेवाले बैठकर अपने साजों को ठीक करते रहते हैं।

अन्यत्र असम के रभा तथा भाओनाघर का उल्लेख हुआ है। शायद भाओनाघर सबसे अधिक विधिवत् निर्मित रंगशाला है। लगभग सौ गज लम्बे और २० गज चौड़े इस मण्डप की छत दुहरी होती है, स्तम्भ लकड़ी के होते हैं। छत के भीतरी भाग को कपड़े से ढका जाता है। मण्डप की भूमि कच्ची, किन्तु अच्छी तरह पुती हुई होती है। स्तम्भों को पाँच फुट की ऊँचाई तक कपड़ों से अलंकृत किया जाता है।

मण्डप के एक ओर कुछ ऊँचाई पर थापना, यानी वह स्थान होता है, जहाँ भागवत ग्रन्थ रखा रहता है। दूसरी ओर गायन-वायन, यानी गायकों और वाद्यकारों की मण्डली बैठती है। बीच में ४० गज की आयताकार भूमि को रंगस्थली कहा जाता है, जिसके दो ओर दर्शक बैठते हैं। अभिनेतागण उस तरफ से प्रवेश करते हैं, जिधर गायन-वायन-मण्डली बैठती है। रंगस्थली के ऊपर एक चन्दोवा तना रहता है। नाटक में विभिन्न स्थानों को दिखाने के लिए रंगस्थली के दोनों ओर छोटी-छोटी चौकियाँ रखी रहती हैं। उदाहरणतः, एक चौकी द्वारकापुरी की, दूसरी कुण्डनपुर की, तीसरी मथुरा की इत्यादि। जब दूत कुण्डनपुर से द्वारका जाता है, तब एक चौकी से दूसरी चौकी तक यात्रा इस भाँति करता है, मानों कोसों का सफर कर रहा हो। भाओनाघर की रंगस्थली की यह पद्धति यूरोप में मध्ययुग में जो साम्प्रदायिक चर्च नाटक खेले जाते थे, उनकी रंगस्थली की शैली के समान है। इसका विवरण एलर्डाइस निकल ने अपने ग्रन्थ वर्ल्ड ड्रामा में किया है और उसमें दिये गये चित्र से असम के भाओनाघर की रंगस्थली बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

तमिलनाडु में मेलात्तूर की रंगशाला में गली को लगभग सौ गज तक नारियल के छप्पर से ढक दिया जाता है। हिमाचल में दो पहाड़ियों के बीच खुले हुए स्थान को अखाड़ा बनाया जाता है और वहीं अग्नि जलाकर अभिनय होता है। दर्शक तीन ओर बैठते हैं और बीच में नटों के आने-जाने के लिए एक वीथि छोड़ी जाती है। हिमाचल के अखाड़ा

की भाँति ही पूर्णिया जिले के 'विदापत नाच' में अभिनय के स्थान को रंगस्थली कहा जाता है। जात्रा में मंच थोड़ा ऊँचा होता है और उसके चारों ओर दर्शक बैठते हैं।

उत्तरप्रदेश और दिल्ली में रामलीला का जो प्रदर्शन होता है, उसकी रंगस्थली कहीं अधिक विशाल होती है, चूँकि प्रेक्षकों की संख्या भी उसी अनुपात में अधिक होती है। उत्तरप्रदेश में रामलीला के लिए लगभग पाँच सौ गज की आयताकार भूमि के चारों ओर खेमे लगा दिये जाते हैं, इसे बाड़ा कहते हैं। बाड़े के अन्दर चित्रकूट, लंका, पंचवटी इत्यादि के लिए अलग-अलग स्थान नियत होते हैं। इस तरह नाट्य-गति और व्यापार का एक विविध और प्रभावकारी चित्र प्रेक्षक के सामने आ जाता है। दिल्ली की परम्पराशील रामलीला में ६ फुट से कुछ ऊँचा मंच बनाया जाता है। मंच लगभग सौ गज लम्बे और तीस गज चौड़े पथ के रूप में होता है। वल्लियों पर तस्ते बाँधकर इसका निर्माण किया जाता है। एक सिरे पर लंका और दूसरे सिरे पर चित्रकूट। प्रेक्षक लम्बाई के दोनों ओर खड़े या बैठे रहते हैं।

रामलीला की विशाल रंगस्थली के मुकाबिले मालवा और राजस्थान की माँच-शैली की भव्यता का आधार है एक ही मंच पर अनेक स्तरों का प्रदर्शन। माँच संस्कृत के मंच का अपभ्रंश है। इसके लिए करीब १०-१२ फुट ऊँचा मंच तैयार किया जाता है। जॉन मैलकम ने उन्नीसवीं सदी में माँच के जो प्रदर्शन उज्जैन के पास देखे, उसमें उन्होंने 'तीन-खन का खेल' नामक माँच का उल्लेख किया है। चौमुहाने पर एक तिमंजिला मंच खड़ा किया गया था। सबसे नीचे की मंजिल पर घर के भीतरी कक्ष में चौपड़ खेलने का अभिनय दिखाया जा रहा था। बीचवाली मंजिल पर एक नृत्य हो रहा था और सबसे ऊपर गंजफा के खेल दिखाये जा रहे थे। यद्यपि आजकल माँच में इस तरह की तीन मंजिलें नहीं दिखाई जाती हैं, तथापि मंच काफी विशाल होता है और उसके ऊपर विविध रंग के चँदोवे ताने जाते हैं। राजस्थान में माँच से मिलता-जुलता 'तुरी किलिणी' नामक एक नाट्य होता है, जिसके लिए ऐसा मंच बनाया जाता है, जिसके दो तरफ ऊँचे महल और बीच में खुला युद्धस्थल होता है। दो स्तर के इस भाँति के मंच बनाने की शैली उत्तर भारत के अनेक नाट्यों में पाई जाती है। नौटंकी और संगीत के मंच में भी चारों तरफ एक नीचे स्तर का मंच होता है, जो ऐसे दृश्यों में विशेष काम आता है, जहाँ गायक गली से मकान पर कमन्द फेंककर चढ़ जाता है।

किसी भी परम्पराशील रंगशाला में उस तरह का पर्दा नहीं होता, जैसा आधुनिक नागरिक रंगमंच में। संस्कृत-रंगमंच पर यवनिका और पटी को लेकर विद्वानों में अक्सर चर्चा रही है। यवनिका 'ड्रॉप कर्टेन' के ढंग का पर्दा नहीं होता। उसे तो दो व्यक्ति उस समय लेकर खड़े होते हैं, जब किसी प्रधान पात्र या पात्री का प्रथम प्रवेश होनेवाला होता है। पात्र स्वयं भी पर्दे को ऊपर के छोर पर पकड़े रहता है। प्रवेशगीत गाया जाता है, जिससे दर्शकों की उत्सुकता बढ़ जाती है। तब धीरे-धीरे करके पात्र का प्रथम दर्शन होता है। इसी को परम्पराशील रंगशाला में यवनिका-उत्थापन कहते हैं। आजकल ब्रज की रासलीला में लीला प्रारम्भ करने के पहले मुख्य पात्र-पात्री, राधा-कृष्ण

आदि की श्रान्तियाँ बहुत कुछ इसी प्रकार दिखाई जाती हैं। किन्तु, रासलीला में एक पृष्ठभूमि का पर्दा भी टँगा रहता है। इसे 'पिछवाई' की संज्ञा दी गई है। असम के अंकिया नाट में जो यवनिका सामने लाई जाती है, उसे आड़-कापड़ कहते हैं। यहाँ में उत्तर बिहार के 'विदापत नाच' का भी उल्लेख करना चाहेंगा। जिस तरह से यवनिका-उत्थापन के समय असम, केरल एवं अन्य स्थानों में गान और वाद्य-वादन होते हैं, उसी तरह एक प्रारम्भिक वाद्य-वादन 'विदापत नाच' में भी होता है। मजे की बात यह है कि इसे स्थानीय बोली में 'जमीनिका' कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शब्द यवनिका का अपभ्रंश है।

स्पष्ट है कि परम्पराशील नाट्य में पर्दा दर्शकों और मंच एवं पात्रों के बीच व्यवधान नहीं है। वह या तो किसी प्रधान पात्र का परिचय देने में व्यवहृत होता है अथवा किसी देवी-देवता की स्तुति के लिए।

रंगस्थली पर पात्रों के प्रवेश की पद्धति लगभग सभी आंचलिक नाट्यों में शोभा-यात्रा का स्वरूप लेती है। उत्तरप्रदेश की रामलीला में तो यह शोभायात्रा ही मुख्य नाटक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई है। किन्तु, पात्र-प्रवेश का सबसे समीचीन तरीका हिमाचल के करियाला तथा कश्मीर के भाँड़जशन में देखा जाता है। करियाला में पात्र प्रेक्षकों के बीच में होकर जाते हैं और उनसे परिहास भी करते जाते हैं।

दर्शकों के बैठने के लिए नाट्यशास्त्र में जो व्योरेवार निर्देशन दिये गये हैं, उनका पालन केवल एक आंचलिक रंगशाला में हमने देखा। माँच में रंगशाला का दाहिना भाग वयोवृद्ध दर्शकों के लिए निश्चित होता है। ठीक सामने चार खम्भे होते हैं, जिन्हें बाँदी के खम्भे कहते हैं और जहाँ अफसरों और राजपुरुषों के लिए स्थान नियुक्त होता है। करियाला में स्त्रियाँ एक तरफ बैठती हैं और पुरुष दूसरी तरफ। रामलीला में बाड़े के चारों ओर कुछ मचान खड़े किये जाते हैं, जिनपर स्त्रियाँ बैठती हैं। उड़ीसा के गंजाम जिले में प्रह्लादनाटक के प्रदर्शन में दो मण्डलियाँ अभिनय करती हैं और उन दोनों मण्डलियों के बीच दर्शक बैठते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि परम्पराशील रंगशाला में भेदभाव बहुत कम है और दर्शकों और नटों के बीच एक तरह की आत्मीयता है, जो नागरिक रंगशाला के औपचारिक वातावरण में लुप्त हो गई है।

प्राचीन नाट्यशास्त्र में 'ग्रीन रूम' के लिए नेपथ्य और सज्जागृह ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मैंने बयलाट यक्ष-गान में जो सज्जागृह देखा, वह एक तम्बू की तरह का था—मंच से लगभग दस गज दूर। उसके कोने में स्वस्तिका खिंची थी, नारियल, चावल इत्यादि रखे थे। स्वस्तिका के निकट किरिट भी था। असम के अंकिया नाट में 'ग्रीन रूम' को 'छघर' कहते हैं, जो छद्मगृह का अपभ्रंश है। 'छघर' से पात्र गायन-वादन के पास होते हुए रंगस्थली में जाते हैं।

प्रायः उत्तर भारत के अन्य नाट्यों के प्रदर्शन में 'ग्रीन रूम' को अलग करने की प्रथा नहीं है। गायक-वृन्द के निकट ही वे पात्र बैठे रहते हैं, जिन्हें वाद में प्रवेश करना होता है।

रंगशाला में गायकों और वाद्यकारों की मण्डली के लिए स्थान की विशेष महत्ता है; क्योंकि पदों और औपचारिक दृश्य-परिवर्तन के अभाव में गीत और वाद्य-वादन ही कथासूत्र को शृंखलाबद्ध करते हैं तथा प्रसंगों के बीच कालावधि में पूरक का काम करते हैं। सूत्रधार इस मण्डली का अभिन्न अंग होता है और कहीं-कहीं उसका प्रमुख भी। गुजरात की भवई में दो नटों को आदेश मिलता है कि वे एक वृत्ताकार मंच तैयार करें, जिसे 'पीढ़' कहा जाता है और जिसपर गान-मण्डली बैठती है। असम के अंकिया नाट में इस मण्डली के लिए एक अत्यन्त समीचीन शब्द है—गायन-त्रायन। असम के भाओनाधर के एक सिरे पर तो भागवतग्रन्थ रखा रहता है और दूसरे सिरे पर एक गद्दे पर गायन-त्रायन बैठते हैं। दोनों के बीच में एक लम्बे पथ की भाँति रंगस्थली होती है। सूत्रधार अपनी घोषणाओं और प्रवचनों के बाद गायन-त्रायन के निकट ही जा बैठता है। रासलीला के छोटे-से मण्डप में गायक और वाद्यकार, जिन्हें समाजी कहा जाता है, रंगस्थली में ही बैठते हैं, ताकि बाल-नटों को निर्देशन देने में सुविधा हो। मंच-रंगमंच पर ठीक पीछे एक स्थान गायक-मण्डली के नियत है, जिसे टेक-का-पाट कहते हैं, यानी वह पाट, जहाँ से नाट्यगीतों की टेक उठाई जाती है। वस्तुतः, यह टेक ही वह अदृश्य, किन्तु अव्यसूत्र है, जो नाटक की गति को संचालित करता है।

यह टेक महाराष्ट्र के 'तमाशा' में इतनी जरूरी है कि वहाँ गायक-मण्डली नट-नटियों के ठीक पीछे खड़ी होकर ही गीत की रीढ़ को सँभाले रहती है। दक्षिण की तो लगभग सभी नाट्यशैलियों में गायकवृन्द अभिनेताओं की पृष्ठभूमि की भाँति खड़े रहते हैं। यही काश्मीर रंगमंच की परिपाटी है। किन्तु साँग, नौटंकी में गुरु अथवा उस्ताद अपनी मण्डली के साथ मंच पर या उसके निकट बैठते हैं। यात्रा में भी यही नियम है और शायद रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी नृत्य-नाटिकाओं में मंच पर ही बैठने का नियम यात्रा की पद्धति के अनुसरण में निर्धारित किया।

सेटिंग और मंच-व्यवस्था :

मंच पर गान-मण्डली की उपस्थिति के कारण कुर्सी इत्यादि, या स्टेज प्रापर्टी लिए स्थान नहीं रहता। वैसे भी अधिकतर पात्र खड़े ही रहते हैं, राजा या ऋषि-मुनि के लिए आसन की व्यवस्था कभी-कभी की जाती है। अंकिया नाट में विभिन्न स्थानों के लिए जो चौकियाँ रखी रहती हैं, उनपर मुख्य पात्र संवादों के बीच में बैठ जाते हैं। चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर आधारित यात्रा में शयनगृह के नाम पर एक पलंग-मात्र बिछा दिया जाता है। वस्तुतः, परम्पराशील नाट्य में वाणी, गीत और वेशभूषा द्वारा रसनिष्पत्ति का आविर्भाव किया जाता है, मंच पर स्थान-विशेषसूचक पदार्थों के यथातथ्य अथवा सांकेतिक नियोजन से वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं होती। किन्तु, फिर भी साधारण प्रेक्षकों में विस्मय और आह्लाद की उद्भावना के लिए उन रंगशालाओं में, जिन्हें राज्याश्रय अथवा देवालयों से संरक्षण प्राप्त होता रहा, चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किये जाते हैं। केरल के कूटियाट्टम् में कुछ पहले तक गरुड की उड़ान के लिए कुछ यन्त्र



ऊपर : केरल का कूडीयाट्टम् : अर्जुन और
विदूषक (सुभद्रा-धनंजयम् का एक दृश्य)
नीचे : केरल का ईसाई नाट्य: चविट्टु क्रुजेड का
दृश्य—चार्लिंग अपने पार्षदों के साथ



तैयार किये जाते थे। नाटकी में स्पाहपोश के अभिनय में फाँसी का दृश्य अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण होता था। अंकिया नाट में रंगस्थली पर श्रीकृष्ण रथ पर चढ़कर आते हैं, जिसमें कागज और कूट के घोड़े के भीतर बैठे लोग उसे संचालित करते हैं। फिर भी, ये चमत्कारदृश्य अपवादस्वरूप हैं। आंचलिक नाट्यों की सामान्यतः प्रवृत्ति यह है कि नाटक की मूल प्रेरणा और संवाद का सीधा सम्प्रेषण प्रेक्षक तक किया जाय, उसमें व्यवधान कम-से-कम हो।

जबतक गैस के हण्डों और हाल ही में विजली ने परम्पराशील रंगशाला पर धावा नहीं बोला था, तबतक दीपक अथवा मशाल के मन्द प्रकाश में पात्रों के रंग-विरंगे और गहरे प्रसाधन अत्यन्त आकर्षक रूप में प्रदीप्त होते थे। दक्षिण भारत में कहीं-कहीं अब भी दीपक की ज्योति की पूर्णतया उपेक्षा नहीं हुई है। केरल के नाटकों और कथकली-नृत्य-प्रदर्शन में अब भी पीतल का विशाल स्तम्भ मंच को सुशोभित करता है, चाहे हॉल में विजली के बल्व जगमगाते हों। दीपक की एक लौ दर्शकों की ओर उन्मुख होती है और दूसरी अभिनेताओं की ओर। कर्नाटक के 'यक्षगान' एवं 'वयलाट' में नट के दोनों ओर मशाल लिये हुए दो अनुचर खड़े रहते हैं, और नट जैसे-जैसे आगे-पीछे चलता है, वैसे ही मशालधारी परिचारक भी। कर्नाटक से सैकड़ों मील दूर असम में भी मशालों का रंगशाला में प्रयोग होता है, किन्तु अधिक कलापूर्ण ढंग से। जब किसी प्रधान पात्र का प्रवेश होता है, तब दो व्यक्ति लकड़ी का मेहराव लेकर खड़े होते हैं, जिसके नीचे से पात्र प्रवेश करता है। इस मेहराव पर चार-पाँच छोटी-छोटी मशालें लगी होती हैं और ज्योंही पात्र उसके नीचे से गुजरता है, उसके चेहरे का प्रसाधन, उसकी आकृति और वेशभूषा जगमगा उठते हैं, सैकड़ों प्रेक्षक पलभर में पात्र और उसके शील एवं प्रवृत्तियों को पहचान लेते हैं।

परम्पराशील आंचलिक रंगशाला का यह मन्द मधुर स्मिति-सा प्रकाश अब विजली द्वारा आक्रान्त हो रहा है। विजली कोई बुरी वस्तु नहीं है, किन्तु उसके कलापूर्ण उपयोग के लिए सुरुचि और कौशल की दरकार है, जो सहज उपलब्ध नहीं। मैंने तमिलनाडु के अत्यन्त शास्त्रसम्मत और प्राचीन शैली के अभिनयों पर भट्टे रंगों के स्लाइड्ज का प्रकाश पड़ते देखा है। बात यह है कि जनसाधारण के जीवन में, विशेषतः गाँवों के वातावरण में, किसी भी प्रकार के नूतन साधन अपने में एक चमत्कार, एक तरह का जादू है। और जादू-टोना जनसमुदाय को स्वभावतः आकृष्ट करता है। विजली का जादू रंगशाला ही नहीं, मन्दिरों के ऊपर भी चढ़ रहा है। मैंने मदुरा के मीनाक्षी-मन्दिर में, ठीक गर्भगृह में 'निग्रन लाइट' के स्तम्भ देखे हैं, जिनपर अँगरेजी में 'निग्रन लाइट कम्पनी' का नाम भी अंकित था। मुझे लगा, मानों मीनाक्षी की सुन्दर आँखों में किरकिरी जा पड़ी हो!

वेशभूषा और पूर्वरंग

वेशभूषा और प्रसाधन :

परम्पराशील नाट्य में भरत-नाट्यशास्त्र के दो अंगों का विशेष महत्त्व है। एक तो है आहार्य-अभिनय, यानी वेशभूषा और अंगराग द्वारा पात्र के चरित्र को प्रकट करना। दूसरा है पूर्वरंग, यानी मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने से पहले स्तुति, प्रस्तावना, परिचय, पूजन इत्यादि की प्रक्रियाएँ।

वेशभूषा और अंगराग का ध्येय यथातथ्य का चित्रण करना नहीं है। पात्र के चरित्र के अनुसार रंगों का विधान, उसकी प्रवृत्तियों के अनुकूल वस्त्रों का आयोजन शास्त्र-सम्मत विधि से किया जाता है। इस तरह का रूढिगत आहार्य नियोजन दक्षिण के परम्पराशील नाट्य में अधिक पाया जाता है। फिर भी रूढियाँ तो देश-भर में व्यापक हैं। भरत के अनुसार विद्रूपक हाथ में वक्रदण्ड लिये होता है। राजस्थान के ख्याल नाट्य में तेजाजी का बन्धु, जो विद्रूपक ही है, इसी ढंग की लकड़ी साथ में रखता है। काश्मीर में विद्रूपक को मसखरा कहते हैं और वह भी एक टेढ़ी लकड़ी अपने साथ रखता है। केरल के कूटियाट्टम् में विद्रूपक की सज्जा बड़ी सावधानी से की जाती है—मुख, वदन और भुजाओं पर चावल का आटा रेंगा होता है; मस्तक, नासिका, कपोल पर लाल रंग लगा होता है; आँखों में गहरा काजल, जो कानों तक फैला होता है; एक मूँछ ऊपर उठी हुई और एक नीचे गिरी हुई। उसके पास भी उसी ढंग का टेढ़ा दण्ड होता है।

वेशभूषा में विविधता दो कारणों से आई है। एक तो मध्ययुग में मुसलमानी प्रभाव से लम्बे जामे पहनने की प्रथा चल निकली और दूसरे हिमालय और काश्मीर में सरदी के कारण सारे शरीर को ढकनेवाले वस्त्र पहने जाने लगे। किन्तु, भारी और भव्य पोशाक ऐसे प्रदेशों में भी पहनी जाती है, जहाँ की जलवायु अधिक शीत नहीं है। वेशभूषा और अंगराग के विषय में कितनी तैयारी की आवश्यकता होती है, इसका एक नमूना कर्नाटक के यक्षगान में मिलता है। वहाँ के एक पात्र, वन्नदावेश, की तैयारी में घण्टों लगते हैं। डॉ० रंगनाथ ने यक्षगान की वेशभूषा के विषय में अपने ग्रन्थ (द कर्नाटक थियेटर) में ब्योरेवार वर्णन दिया है, जो यहाँ अप्रासंगिक न होगा: “यदि यम अथवा नृसिंह की भूमिका हो अथवा किसी राक्षस की, तो नट की कमर को बृहदाकार करने के लिए वस्त्रों अथवा साड़ियों से शरीर को लपेट दिया जायगा। पात्रों की आन्तरिक विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिए उपयुक्त रंगों के जामे (ढीले वस्त्र) पहराये जाते हैं, दैत्य के लिए काले और राजाओं, देवताओं और महानायकों के लिए कथई। उसके ऊपर शीशे के टुकड़ों से अलंकृत कढ़ाईवाली वास्कट पहनी जाती है। आभूषणों में प्रायः मोती और मूंगा के कण्ठहार और मालाएँ, कोहुनी पर भुजकीर्ति, कलाई पर तोल पवाडा, भुजाओं पर सोने की पत्ती, सिर पर मुकुट, कानों में कर्णफूल, कमर से

‘दगले’ नामक कड़ाईदार वस्त्र लटकता रहता है और पैरों में नूपुर। शिरस्त्राण और मुकुट नाना आकार-प्रकार के होते हैं। सबसे ऊँचे मुकुट ‘वट्टालु किरिट’ कहलाते हैं, आभामण्डल-सहित ये मुकुट दशरथ और धर्मराज जैसे महत् पात्रों द्वारा धारण किये जाते हैं। राम और अर्जुन जैसे पात्र ‘पौम्बे किरिट’ पहनते हैं, शूर्पणखा इत्यादि राक्षसी मोरपंखों से सुसज्जित ‘रावकसी किरिट’ धारण करते हैं, और हनुमान् के मुकुट को ‘हनुमन्तन किरिट’ कहा जाता है। सफेद और काले कपड़े से बने और चाँदी की जरी और मोरपंख से अलंकृत आभामण्डल को ‘सिरिमुडि’ कहते हैं और कृष्ण एवं अभिमन्यु जैसे पात्र इसे धारण करते हैं। मुख-प्रसाधन के लिए रंगों का चुनाव अत्यन्त सावधानी से किया जाता है। देवताओं का रंग रक्तिम श्वेत होता है। कृष्ण का प्रसाधन मनोरम नीले रंग से किया जाता है। पहले समय में मूल रंगों को स्थानीय उपलब्ध रंग-पदार्थों (जैसे आरडाल, इंगलीका कडिगे, बलप) से तैयार किया जाता है। रंगों के इस मूल स्तर, यानी जमीन पर ही पात्र की चरित्रगत विशेषताओं को लाल और सफेद रंगों में अंकित किया जाता है। नृसिंह, रावण, चण्डी और यम जैसे प्रचण्ड या भव्य पात्रों की नासिका को कपास लगाकर ऊँचा उठा दिया जाता है, नेत्र वास्तविक आकार से निगुने बड़े जान पड़ते हैं, और सफेद बूंदों की लड़ी चेहरे के चारों ओर एक फ्रेम की भाँति अंकित कर दी जाती है।”

दक्षिण भारत की अनेक नाट्यशैलियों में इस तरह के रूढिगत प्रसाधन और वेशभूषा का व्यवहार आज तक होता रहा है। उत्तर भारत का रंगमंच वेशभूषा-परम्परा का बराबर पालन नहीं कर सका और इसलिए उसमें एक-दो प्रमुख पात्रों की ही वेशभूषा मूल रूप में कायम रह सकी। ब्रज की रासलीला में कृष्ण और उत्तरप्रदेश की रामलीला में राम को जिस तरह के जामे और चूड़ीदार पाजामे पहनाये जाते हैं, वे मुगलकालीन अथवा राजपूत-राजाओं के वस्त्रों से विशेष भिन्न नहीं हैं।

रूढियाँ और विविधता :

वेशभूषा और अंगराग एवं प्रसाधन के विषय में निम्नांकित सामान्य विशेषताएँ परम्पराशील नाट्यविधाओं में दीख पड़ती हैं :

१. अधिकतर आंचलिक नाट्यों में चटखीले रंग के कपड़े व्यवहार में लाये जाते हैं। इस तरह ग्रामों में जहाँ प्रकाश कम होता है, पात्रों को दूर से पहचाना जा सकता है।

२. उत्तर और दक्षिण दोनों ही नाट्यविधाओं में रूढिगत वेशभूषा का प्रयोग होता है। फिर भी, उत्तर के कुछ नाट्यों में यथार्थ शैली के वस्त्र भी प्रयोग में आने लगे हैं।

३. देश-भर में मुखांटे रंगमंच पर काम में लाये जाते हैं। पौराणिक नाटकों में राक्षसों, गन्धर्वों इत्यादि के लिए मुखांटे लगाये जाते हैं। दक्षिण भारत में उत्तर की अपेक्षा मुखांटे अधिक कलापूर्ण और शास्त्र-सम्मत रंगों से अलंकृत होते हैं। कूटियाट्टम्-नाट्य के

नृसिंह का मुखौटा दो फुट से भी अधिक दीर्घ आकार का है और उसके दर्शन-मात्र से अलौकिक शक्ति का आभास होता है।

४. रुद्धिगत वेशभूषा के साथ-साथ जो पात्र दैनिक जीवन के प्रतिबिम्ब हैं (यानी साधु, भिखारी, नाई, पुजारी इत्यादि), उनकी वेशभूषा यथार्थ की द्योतक है।

५. अंगराग और वेशभूषा में जो सामग्री इस्तेमाल होती है, वह प्रायः स्थानीय कलाकार और शिल्पी ही प्रस्तुत करते हैं। इस तरह परम्पराशील नाट्य-प्रदर्शन के वहाने स्थानीय हस्तशिल्पियों को अपनी दक्षता दिखाने का अवसर मिलता है। दूसरे शब्दों में रंगशाला अन्य ललित-कलाओं को प्रोत्साहन देती है, उनका विकास करती है।

६. इस विशाल देश के विविध क्षेत्रों के पात्र यद्यपि कई प्रकार के कपड़े पहनते हैं, तथापि उनमें अनेक बातों में साम्य भी है। इस साम्य का आधार परम्पराशील नाट्यों का पौराणिक उद्गम है।

पूर्वरंग के प्रकार :

भरत-नाट्यशास्त्र के समय से आज तक पूर्वरंग की परम्परा आंचलिक रंगमंच में जिस तरह प्रवाहित होती रही है, वह निश्चय ही आश्चर्य का विषय है। भरत ने रंगपूजन और पूर्वरंग का जो भेद किया है, वह आंचलिक नाट्यों में स्पष्ट तो नहीं है। फिर भी, उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो अभी तक मौलिक रूप में दृष्टिगत होती हैं। केरल के कूटियाट्टम् में पहले मृदंग-वादन होता है, तदुपरान्त नान्दी-श्लोक के बाद मंच पर पवित्र जल छिड़का जाता है। उसके बाद सूत्रधार विशेष भंगिमा में, जिसे 'क्रियाचवट्टु' कहा जाता है, नृत्य करते हुए रंगस्थली पर जाता है और कुछ पदों का पाठ करता है। उसके बाद मुख्य विषयवस्तु की स्थापना होती है। स्थापना के अर्थ हैं मुख्य पात्रों का परिचय देना। उसके बाद विदूषक दर्शकों के सामने पुरुषार्थ का वर्णन करता है और प्राचीन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्थान पर विनोद, वंचना, अशन और राजसेवा को पुरुषार्थ बताता है। इसके पश्चात् ही मुख्य नाटक प्रारम्भ होता है। हाल तक ही इस सम्पूर्ण पूर्वरंग में पाँच दिन लग जाते थे।

ऐसा जान पड़ता है कि कूटियाट्टम् में विदूषक और सूत्रधार को अपना कौशल दिखाने के लिए पूर्वरंग पर इतना समय दिया जाता है। असम के अंकिया नाट में भी शायद वहाँ की आदिम जातियों के कलाकारों को प्रोत्साहन देने के लिए शंकरदेव ने प्रारम्भ में मृदंग-वादन पर इतना जोर दिया। मैंने अंकिया नाट का जो पूर्वरंग देखा था, उसका विवरण मैं अन्यत्र प्रस्तुत करूँगा।

इन दो प्रकार के पूर्वरंगों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की नाट्यशैलियों में किसी-न-किसी देवी-देवता का पूजन प्रारम्भ में अवश्य होता है। 'भवई' में गणपति की पूजा होती है और काली की भी। 'भागवतमेल' में भी गणेश का पूजन होता है तथा महाराष्ट्र में भी। 'सांगीत' और 'विदेसिया' में सरस्वती, दुर्गा और गणेश तीनों की स्तुति होती है। गणेश के पूजन का रहस्य यह है कि जब भरत मुनि के प्रथम नाट्य-प्रयोग में विघ्न हुआ, तब शिवजी के गणों ने जाकर उनकी रक्षा की और इसीलिए गणेश का पूजन

आज तक अनिवार्य समझा जाता है। काश्मीर का 'भाण्डजशन' यद्यपि मुसलमान-कलाकारों द्वारा खेला जाता है, तथापि उसमें भी प्रारम्भ में परमात्मा की वन्दना के बाद संस्कृत-मन्त्रों की नकल में कुछ पूजापाठ होता है। इस पूजापाठ में विदूषक भी कुछ परिहास करता है। पूर्वरंग का यह परिहास भरत के नाट्यशास्त्र में ही वर्णित है। नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय के १३४वें श्लोक में कहा गया है कि सूत्रधार और पारिपाश्विक नान्दी-पाठ के उपरान्त एक-दूसरे से बातचीत प्रारम्भ करें, तभी विदूषक अकस्मात् उपस्थित होकर बे-सिर-पैर की बात छेड़ दे, जिसे सुनकर दोनों को हँसी आ जाय। पूर्वरंग में इस तरह तीनों-व्यक्तियों में वात्सलाप 'त्रिगत' कहलाता है। आश्चर्य यह है कि त्रिगत-जैसी ही प्रथा पूर्णिया जिले के 'विदापत नाच' नामक शैली में आज भी विद्यमान है। वहाँ भी प्रस्तावना के समय विदूषक इसी भाँति उल्टे अर्थवाली बात छेड़ देता है। इन अशिक्षित ग्रामीणों में नाट्यशास्त्र के नियम चालू रहे, यह इस बात का प्रमाण है कि आंचलिक रंगमंच की परम्परा बहुत प्राचीन है और विद्वान् लक्षणकारों के बिना ही ये जनमानस में अनवरत प्रवाहित होती रही है।

हिमाचल के 'करियाला' की प्रस्तावना में विदूषक एक स्त्री-पात्र के साथ नाचता हुआ उपस्थित होता है। स्त्री-पात्र को 'चन्द्रावली' कहते हैं। दोनों हास्यपूर्ण मूकान्वय करते हैं और गान-मण्डली के सहगान को मुद्राओं से प्रत्यक्ष करते हैं। उत्तरप्रदेश के नक्कालों के पूर्वरंग में विदूषक एक दूसरे नट को धोड़ा बनाकर लाता है और दर्शकों को अपने नायाब धोड़े के गुणों से परिचित कराता है। जैसा अँगरेजी-नाट्य के विद्वान् जानते हैं, पाश्चात्य देशों में भी विदूषक धोड़े को लेकर नाना प्रकार के अश्लील मजाक करता है, जिससे अँगरेजी में एक मुहावरा चल पड़ा है—'हॉर्स प्ले'।

पूर्वरंग में वाद्य-वादन, स्तुति और परिहास के अतिरिक्त चौथा अंग होता है मंच की तैयारी की रस्म। नाट्यशास्त्र में सूत्रधार द्वारा मंच पर पवित्र जल के छिड़के जाने का विधान है। मध्यप्रदेश में माँच के प्रारम्भ में एक भिस्ती आता है और अपने वंश की कथा कहने के बाद मशक से जल छिड़कने का अभिनय करता है। उसके बाद फ़र्श आता है और उसी भाँति अपनी वंशावली का गीत गाकर फ़र्श बिछाने का अभिनय करता है।

पूर्वरंग का पाँचवाँ और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है प्रस्तावना। संस्कृत-नाटकों में नाटक की विषयवस्तु-सम्बन्धी प्रस्तावना सूत्रधार और नटी के संवाद के रूप में होती है। उत्तर कर्नाटक के 'दोड्डाता' में यही संवाद प्रधान गायक, यानी भागवतर और सारथी के बीच होता है। दक्षिण के इस नाट्य में सारथी और उत्तर के नक्कालों में घुड़सवार का पूर्वरंग में उपस्थित होना किसी अज्ञात, किन्तु एक ही परम्परा का द्योतक है। माँच में नाटक की घोषणा (जिसे नाट्यशास्त्र में 'प्ररोचन' कहा गया है) चौपदार द्वारा की जाती है। तमिलनाडु के भागवतमेल से पात्रों का परिचय सूत्रधार और विदूषक (जिसे कट्टिय-क्करण कहते हैं) के बीच चटपटे संवाद द्वारा दिया जाता है। उत्तरप्रदेश के मुजफ्फर-नगर की नकल-शैली में प्रमुख पात्र एक-एक करके अपना परिचय देते हैं और तदुपरान्त खलीफा सम्पूर्ण नाटक की विषयवस्तु का परिचय देता है।

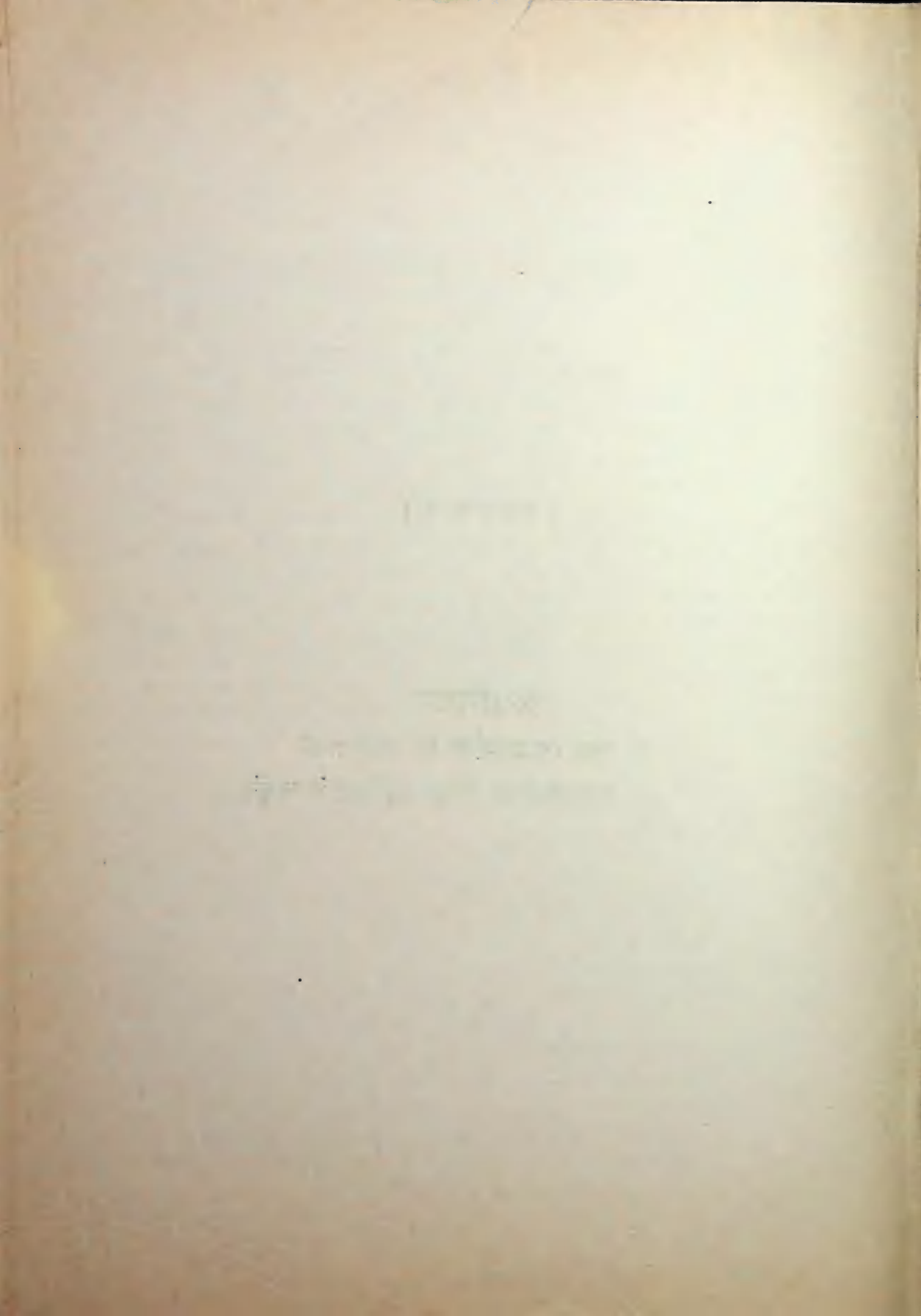
पूर्वरंग के उद्देश्य :

परम्पराशील नाट्य के पूर्वरंग के इस संक्षिप्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि पूर्वरंग के दो प्रमुख उद्देश्य इन कलाकारों को प्रेरित करते हैं। पहला तो यह कि पूर्वरंग के विभिन्न प्रदर्शनों द्वारा दर्शक-समाज को जुटाया जाता है, उनमें उत्सुकता उत्पन्न की जाती है। दूसरा यह कि पूर्वरंग उन सभी सहयोगियों, शिल्पियों, श्रमिकों इत्यादि के प्रति रोचक ढंग से कृतज्ञता-ज्ञापन होता है, जिनके कारण रंग-प्रदर्शन सम्भव हो जाता है। जैसे, आजकल सिनेमा में, प्रारम्भ में 'क्रेडिट' दिखाये जाते हैं और उन लोगों का उल्लेख होता है, जिन्होंने फोटोग्राफी, गान, डाइरेक्शन इत्यादि में सहायता की, उसी भाँति परम्पराशील नाट्य में सारथी, भिश्ती, फ़र्राश से लेकर गायक, वादक, नर्तक और विद्वपक तक का भी परिचय दिया जाता है। अन्तर इतना है कि इन परम्परागत नाट्यों में कलाकार और सहयोगी गुमनाम रहते हैं, उनके व्यवसाय का ही उल्लेख होता है। अगणित गुमनाम कलाकारों के कण्ठ और स्वरो से अलंकृत इस विनीत नाट्य-शैली का प्रथम गगनव्यापी निर्घोष प्रेक्षक-समाज में उल्लास की तरंगें उद्बलित कर देता है। इस पूर्वरंग का प्रतीक है मृदंग। मृदंग भारतवर्ष की आर्येतर आदिम जातियों का प्रतीक है। जब मृदंग पर थाप पड़ती है, तब मानों धरती झूम उठती है और आदिम पृथ्वीपुत्र को आह्वान मिलता है। मेरा अनुमान है कि भरत मुनि ने नाट्य की योजना में आर्य-संस्कृति और आदिम जातियों की कला का सामंजस्य स्थापित किया और पूर्वरंग के विभिन्न अंग इस सामंजस्य के स्वरूप हैं। पूर्वरंग में मृदंग को जो विशेष स्थान दिया गया है, वह आर्यजातियों द्वारा आदिम जातियों के कला और कौशल का अभिनन्दन है।

[तृतीय भाग]

चयनिका

७. कुछ रंग-प्रदर्शनों की झाँकियाँ
८. परम्पराशील नाट्य-साहित्य के नमूने



कुछ रंग-प्रदर्शनों की भाँकियाँ

परम्पराशील नाट्यों का दर्शक, दर्शक-मात्र नहीं होता, वह तो उस उत्सवपूर्ण वातावरण का अंग बन जाता है, जो नट, गायक और वाद्यकार अपने कला-कौशल से उत्पन्न कर देते हैं। वह झूमता ही नहीं, कभी-कभी बोल भी उठता है; विभोर ही नहीं होता, कभी-कभी स्वयं नट बन जाता है। मैंने अनेक ग्रामों में परम्पराशील नाट्याभिनय देखे हैं। किन्तु अन्य मध्यवर्गीय, नागरिक सम्यता-पोषित लोगों की भाँति मेरे भी संस्कार ऐसे हैं कि उस उल्लासपूर्ण वातावरण का अंग नहीं बन सका, दर्शक ही बना रहा, उनमें घुल-मिल नहीं पाया, पर्यवेक्षक की भाँति शिक्षक और शिष्टता की जंजीरों में बँधा रहा। किन्तु, इस परिस्थिति से एक लाभ मैंने उठाया : तटस्थ रहकर मैं उन अभिनयों की विशेषताओं को गौर से देख सका, उनके बारे में कुछ ऐसी सामग्री तुरन्त ही लिख सका, जो प्रायः ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं।

सन् १९४४ ई० में एक बार उत्तर बिहार के हाजीपुर-सबडिवीजन के एक गाँव में दौरा करते समय अकस्मात् मुझे हरिजनों की बस्ती में 'जालिमसिंह' नामक ग्रामीण नाट्य का प्रदर्शन देखने को मिला। उसके अपरिष्कृत बहिरंग के बावजूद मेरे ऊपर उक्त कथानक की सामाजिक चेतना और गान-पद्धति की प्रेषणीयता का गहरा प्रभाव पड़ा और इस तरह परम्पराशील नाट्यों के प्रति मेरे मन में वह जिज्ञासा जागरित हुई, जिसने आज तक मेरा पीछा नहीं छोड़ा है। उसके बाद मैंने देश के विभिन्न भागों में आंचलिक नाट्यों के अभिनय देखे और उनपर नोट्स लिखे। पर, दस वर्ष बाद, सन् १९६२ ई० के ग्रीष्म में, मसूरी में कुछ इसी तरह मुझे पुनः एक अनौपचारिक प्रदर्शन में अनामन्वित प्रेक्षक बनने का अवसर मिला और हाजीपुर के उस अनुभव की याद ताजी हो गई। हमलोग मसूरी में थे और किसी थियेटर में लखनऊ से आई हुई एक शहरी पार्टी द्वारा प्रस्तुत आधुनिक शैली का नाटक देखने गये हुए थे। उस नाटक की कृत्रिम शैली में न तो आधुनिक नाटकों का गतिमय समावेश था और न परम्परा के रंग। मन उचाट हो गया और हमलोग माफी माँगकर बाहर निकल आये। मध्यरात्रि हो चुकी थी, हवा में थोड़ी सिहरन थी, किन्तु मसूरी की मालरोड का वायुमण्डल शाम को घूमनेवाले बने-ठने पुरुषों और नारियों की निरर्थक वाणी के कोलाहल से छुटकारा पाकर निर्मल हो गया था। सहसा दूर से घाटियों और कन्दराओं में से आती हुई किसी अनजानी पुकार की भाँति ढोलक की आवाज सुनाई पड़ी। मैं अपने मित्रों से विदा माँगकर उस ध्वनि के सूत्र का सहारा लेकर एक चौक में जा पहुँचा, जहाँ मसूरी के कुलियों, रिक्शावालों, नाकरों, होटल के बेयरों इत्यादि के बड़े दर्शक-समूह से घिरी हुई एक सांग-मण्डली मस्त होकर अभिनय कर रही थी। थियेटर के घुटे-घुटे-से वातावरण और कृत्रिम रंगविधान के बाद उस सादगी ने मुझे मोह लिया। न कोई सीन-सीनरी, न कोई मंच, वाद्यों के नाम पर ढोलकी और हारमोनियम, पोशाक भी बहुत कम, मानों दर्शकों में से ही कुछ लोग अपने यथार्थ जीवन को नाटक का रूप दे रहे हों। नाटक में

कौतुक और नीति का विलक्षण मिश्रण था। एक सोलह बरस की कन्या के लिए किसी बीस वर्षीय वर की तलाश हो रही है, विदूषक सलाह देता है—क्यों न दस-दस बरस के दो वर खोज लिये जायें! बाद में कन्या का पिता जब भावी वर का टीका करने जाता है, तब वही विदूषक अत्यन्त गरिमापूर्ण स्वर में व्याख्या करता है—“सुनो! टीके तीन तरह के होते हैं। एक तो वह टीका, जो भगवान् के मन्दिर में पूजन के बाद तुम अपने मस्तक पर लगाते हो। दूसरा वह, जो विवाह के पूर्व कन्या की ओर से भेंट इत्यादि के साथ मंगलसूचक चिह्न तुम्हारे माथे पर लगाया जा रहा है। और, तीसरा वह, जो किसी दुष्कर्म के फलस्वरूप समाज के अदृश्य हाथों से ऐसी स्याही में लगता है, जो छुड़ाये नहीं छूटता, वह है कलंक का टीका! और भाई मेरे, उस टीके से हमेशा बचना!”

रिक्षावालों के बीच खड़े होकर जब मैंने यह व्याख्या सुनी, तब आंचलिक नाट्य के सामाजिक सामर्थ्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा गया और मुझे लगा कि हम सांगजिक चेतना के एक अत्यन्त सशक्त माध्यम की उपेक्षा करते रहे हैं।

सन् १९४४ ई० में हाजीपुर में ‘जालिमसिंह’ के खेल और सन् १९६२ ई० में रिक्षा-वालों के मनोरंजनार्थ वह साँग—इन दो तटों के बीच मेरे अनुभवों की जो धारा बहती रही है, उसकी दो-चार हिलोरों का स्पर्श पाठकों को कराने का प्रयास करूँगा।

पौराणिक रंगशाला : कर्नाटक का ‘दोड़डाता’ :

कर्नाटक में धारवाड़ के निकट पौराणिक नाट्य ‘दोड़डाता’ का अभिनय देखने का अवसर सन् १९५८ ई० के आसपास मुझे मिला। कर्नाटक में लगभग २० दोड़डाता-मण्डलियाँ हैं। मण्डली के प्रमुख को ‘भागवतर’ कहते हैं। मंच के नाम पर एक चौकी और उसपर एक चन्दोवा था। पूर्वरंग के गणपति-पूजन और सरस्वती-वन्दना के लिए भागवतर के वन्दन-गान के साथ दोनों देवी-देवता के प्रवेश हुए। तदुपरान्त, सारथी आया ऐसी नृत्य-भंगिमा में, जिसमें अदृश्य घोड़े, लगाम और रथ का आभास होता था। सारथी भागवतर से पूछता है:

‘काहे तुमलोग गाँव में शोर मचा रहे हो?’

‘शोर नहीं मचा रहे, हम तो भागवत-कथा दिखाने जा रहे हैं।’

‘मुझे भी अपनी मण्डली में शामिल करोगे?’

‘हाँ, हाँ, तुम्हें राजदरबार में दूत का काम दे सकते हैं।’

‘पर, जो तनख्वाह मिलेगी, उसका क्या करोगे?’

‘मैं सुंघनी खरीदूँगा और यों नाक में लगाकर और इस तरह... आक् छी... छीकूँगा।’

इधर यह प्रस्तावना हो रही है, उधर अर्जुन मंच के एक कोने पर आकर समाधि-मुद्रा में बैठ जाता है। सारथी उसके पास जाकर पूछता है—‘ऐ! कौन हो तुम, काठ की तरह बैठे क्या कर रहे हो?’ अर्जुन उत्तर देता है कि वह पाण्डवों में विख्यात वीर अर्जुन है और भगवान् शिव के लिए तपस्या कर रहा है। एक नृत्य के बाद सारथी तो मंच से चला जाता है। शिव (व्याघ्र-छाल और त्रिशूल-सहित) और पार्वती (साड़ी, मेखला और किरीट पहने) प्रवेश करते हैं। पार्वती शिव से मनुष्य-मात्र के दुःख का कारण पूछती है,

शिव अध्यात्म की व्याख्या करते हैं, दुःख-सुख का रहस्य समझाते हैं। इधर गान-मण्डली (जिसे दोड़डाता में 'हिम्मेल' कहा जाता है) शिवस्तुति करती है, और पार्वती की भूमिका करनेवाला नट भी उस स्तुति में सम्मिलित होता है एवं नृत्य भी करता है। मजे की बात यह कि पार्वती के नृत्य में थोड़ी देर के लिए शिव भी शामिल हो जाते हैं। पुनः संवाद, जिसमें कर्नाटक के लिंगायत-सम्प्रदाय के सिद्धान्त में शिवभक्ति की महिमा का वर्णन होता है। एक बात और। जब पार्वती शिवस्तुति का गान और नृत्य करती हैं, तब बीच-बीच में रुक-रुककर कहती हैं—“हे महादेव ! सुनिए, मैं आपकी महिमा का वर्णन कर रही हूँ।” शिव उत्तर देते हैं—“हे प्रिये कहती जाओ, मैं सुन रहा हूँ।” जान पड़ता है कि नटों को विराम देने के लिए यह प्रथा अपनाई जाती है।

पार्वती थोड़ी देर बाद अर्जुन को समाधिस्थ देखकर शिव से कहती हैं—‘इस बेचारे को बरदान दीजिए।’ पर, इस बीच नारदजी आते हैं—लम्बा अंगवस्त्र, जिसे ‘कपिनी’ कहा जाता है, एक हाथ में करताल, दूसरे में माला। अपने भजन में विष्णु के दशावतार का वर्णन करते हैं और शिव को बतलाते हैं कि अर्जुन इन्द्र-पद की प्राप्ति के लिए तपस्या नहीं कर रहा है, वरन् शिव को प्रसन्न करने के लिए।

शिव किरात का वेश धारण करते हैं और अर्जुन की ओर अग्रसर होते हैं। तभी मंच के बाहर से गान-मण्डली एक वाराह का कपड़े का पुतला मंच पर फेंक देती है। अर्जुन और शिव दोनों एक साथ अपने बाण से वाराह पर निशाने लगाते हैं और दोनों ही उसके शव को हस्तगत करने बढ़ते हैं। उसके बाद आक्रोशमय संवाद, गीतों में और गद्य में भी—“हे किरात, तेरी यह धृष्टता ! जानता नहीं, मैं पाण्डुपुत्र वीर अर्जुन हूँ ?” द्वन्द्वयुद्ध होता है, बाहर से कुछ व्यक्ति दोनों को तीर पकड़ाते हैं, भागवतर समरगान गाते हैं,—तीव्र गति, स्पष्ट ताल, जिसके अनुसार दोनों पात्र पदक्षेप करते हैं, धनुष खींचते हैं। स्वर, ध्वनि, ताल और मुद्राओं का ऐसा सामंजस्य उपस्थित होता है, मानों हम युद्धस्थल पर पहुँच गये हों। कभी-कभी दोनों योद्धा घुटने टेककर बैठे मूर्ति-समान (स्टेचुस्क) मुद्रा में दीखते हैं। उस छोटे-से मंच पर एक घोर द्वन्द्वयुद्ध का आभास (इल्यूजन) देने के ये ही तरीके थे।

अर्जुन पराजित हो जाता है और हताश स्वर के गान में कहता है—“मैंने तपस्या की एकाग्रता को भग्न किया, इसीलिए पराजित हुआ हूँ।” किरात व्यंग्यपूर्ण स्वर में पूछता है—“कौन है वह निष्क्रिय देवता, जिसकी आराधना तुम कर रहे थे ? चलो, उसे भी ठिकाने लगा दूँ।” अर्जुन तिलमिला उठता है और शिवलिंग के सामने फूल चढ़ाने लगता है। यह देखकर वह अचरज में पड़ जाता है कि इधर वह शिवलिंग पर फूल चढ़ाता है, उधर किरात के चरणों के आगे फूल गिरते जाते हैं। गान-मण्डली का एक सदस्य मंच पर दर्शकों के सामने ही किरात के चरणों पर फूल डालने लगता है, पर दर्शकों के ऊपर चमत्कार का जो प्रभाव पड़ रहा है, उसमें इस बात से कोई अन्तर नहीं होता। अर्जुन को ज्ञान होता है कि उसे पराजित करनेवाले किरात स्वयं शिवशम्भु हैं। उनके चरणों पर झुक कर पाशुपत अस्त्र की याचना करता है। पार्वती भी उसपर प्रसन्न होकर पीठ पर वरद हस्त रखती हैं। नाटक के अन्त में सब पात्र मिलकर मंगलमय गीत गाते हैं, जिसमें भरतवाक्य के ही समान विश्व और समाज के लिए शान्ति और कल्याण का आह्वान होता है।

इस अभिनय के बहिरंग में कुछ विशेषताएँ थीं। कथा की सन्धियों के अवसर पर सारथी और सूत्रधार मंच पर अनेक बार आये। बाघों का नाद प्रायः भागवतर की पंक्तियों के अनुसरण में स्वर-विस्तार करता था। नटों की हस्तमुद्राओं में वैचित्र्य था; स्त्री-पात्र हाथों को ऊपर से नीचे लाते समय एक चक्कर-सा बनाते थे, पुरुष-पात्र अपने हाथों को नीचे लटकाये रहते थे—हथेलियों को दर्शकों की ओर किये हुए। मुख्य नाटक के बीच में एक लघु प्रहसन भी था, एक महाजन के विषय में। किन्तु, प्रहसन के साथ भागवतर ने कोई गीत नहीं गाया, विदूषक (जिसे 'आडोसोगु' कहते हैं) को स्वयं ही गाना भी पड़ा और संवाद भी बोलना पड़ा।

किरातार्जुनीय की कथा माघ की कथा पर आधारित होते हुए भी कहीं-कहीं नवीन नाटकीय तत्वों से सम्पन्न है। वस्तुतः, किरात और अर्जुन की कथा, भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में आंचलिक कलाकारों का प्रिय विषय रही है। मैंने 'दोड़डाता' से भी पहले हजारीबाग के गोला थाने के पास कुम्हार आदिवासियों की एक मण्डली द्वारा प्रस्तुत 'किरातार्जुनीय' नृत्य-नाट्य देखा था, जिससे मैं इतना प्रभावित हुआ कि कुछ समय बाद मैंने उस मण्डली को दिल्ली के लोकनृत्य-समारोह में भेजा था। मेरा अनुमान है कि किरात और अर्जुन की कथा की लोकप्रियता का कारण यह है कि वह आदिम जातियों और आर्यों की संस्कृतियों के आदान-प्रदान का प्रतीक है, संघर्ष के बाद सामंजस्य और विनिमय का चिह्न है। दूसरे, इस प्रदर्शन में एक ओर तो भागवत के पौराणिक वृत्त और दूसरी ओर आदिम जातियों के सामरिक नृत्य और वाद्य-वादन को सम्मिलित करने का अवसर मिलता है।

काश्मीर का 'भाँडजश्न' अथवा 'पथ्र' :

काश्मीर में 'भाँडजश्न' नामक परम्पराशील रंगशाला के नाट्यों को 'पथ्र' कहते हैं, जो संस्कृत-शब्द 'पात्र' का अपभ्रंश जान पड़ता है। भाँड तो संस्कृत भाषण से ही निकला है, यद्यपि पथ्र परिहासपूर्ण होते हुए भी संस्कृत के भाषणरूपक से भिन्न है। श्रीनगर से १६ मील दूर बहथोर नामक ग्राम में मैंने मुसलमान-कलाकारों द्वारा प्रस्तुत 'दरदपथ्र' नामक नाट्य देखा। सबसे पहले हुआ पूर्वरंग, जिसमें पूजापाठ भी था, और जो संस्कृत-मन्त्रों की अनुकृति जान पड़ा। शोभायात्रा में गान-मण्डली के तालों पर धीरे-धीरे चलता हुआ उत्तरदेश का दरद सेनापति आता है। शरीर पर जामा, दायें हाथ में पल्लव (यानी बड़ा रुमाल), बायें में तबरजीन, जो कुल्हाड़े के ढंग का अस्त्र है। उसके पीछे-पीछे पंक्तियों में उसके सैनिक इत्यादि हैं, जो हाथों में पल्लव और हथियार लिये हुए हैं।

थोड़ी देर बाद एक कनात लिये हुए दो अनुचर आते हैं। उनके पीछे दरद देश का आक्रमणकारी वादशाह और उसकी दो प्रेमिकाएँ हैं, जिन्हें माशूका कहा जाता है। गान-मण्डली उच्च स्वर में वृन्दगान करती है, और तब (बहुत कुछ उसी भाँति, जैसे कथकली में और असम के कुटियाट्टम् में) कनात हटाकर हमें तीनों प्रमुख पात्रों के दर्शन होते हैं। अनुचर कनात को ऊपर उठाकर चन्दोबा बना देते हैं। वादशाह चमकता हुआ साफा, रंग-बिरंगा कमरबन्द और कड़ा हुआ जामा पहने हुए माशूकाओं का हाथ पकड़े आगे बढ़ता है। तब विदूषक, जिसे मसखरा कहते हैं, मस्त भंगिमा में आगे बढ़ता है, मानों वादशाह

की उपस्थिति का उसे कोई भान न हो। मसखरों की वेशभूषा साधारण कश्मीरी ग्रामवासी की-सी है। हठात् वादशाह को देखकर भयाक्रान्त होकर जब वह भागता है, तब दर्शक खिलखिलाते हैं। दूसरा देहाती आता है और वैसे ही किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। उसके बाद तीसरा भी। क्रूर आक्रमणकारी के प्रभाव को दिखाने की अत्यन्त रोचक पद्धति अपनाई गई। चौथा देहाती तो अनजाने ही उस वादशाह के सामने पहुँचकर जिस तरह कांपने लगता है कि उसमें उच्चकोटि का अभिनय दीख पड़ता है।

वादशाह से डरते हुए भी ग्रामीण माशूकाओं की ओर आकृष्ट होते हैं और उनसे प्रेम करने और उन्हें चुम्बन करने की चेष्टा करते हैं। वादशाह रोप में आकर अपना कोड़ा चलाता है। क्रोध के अभिनय में वह जिस तरह अपने स्कन्ध हिलाता है, उसका कथकली में रावण के अभिनय से साम्य है। दरद वादशाह किसानों पर कोड़ा चलाता है, उनपर अत्याचार करता है, मदिरा पीकर मदहोश हो जाता है, माशूकाओं के गले और कमर में हाथ डाले झूमता है। किसान दूर से देख-देखकर टिप्पणी करते जाते हैं और जब वादशाह नशे में विलकुल अचेतन हो जाता है, तब वे चुपके-से एक-एक करके माशूकाओं को उड़ा ले जाते हैं। कामुक वादशाह होश में आने पर अपनी प्रेमिकाओं को पाने के लिए कोड़े फटकारता है, एक-एक करके ग्रामवासियों से प्रश्न करता है। इन सवाल-जवाबों में अनेक नाटकीय तत्त्व दीखे। वादशाह ने पूछा—‘मेरे माशूक को देखा है?’ किसान बोला—‘माशूक कौन बला होती है? क्या उसके शरीर है या केवल जंघा है?’ एक किसान कहता है—‘मैं तुम्हारे कान में बताऊँगा कि तुम्हारी माशूका किधर है।’ पर, जब अपने होठ वादशाह के कानों के पास ले जाता है, तब ठठाकर हँसने लगता है? क्यों? इसलिए कि वादशाह के कानों के बाल उसके होठों में गुदगुदी पैदा करते हैं। इस तरह की भाँति-भाँति की धमाचौकड़ियों के बाद एक ग्रामीण वादशाह को समझाता है कि एक ही शर्त पर तुम्हारी माशूका तुम्हें मिल सकती है कि तुम हम किसानों पर अत्याचार करना छोड़ दो और मेल-भाव से रहो। वादशाह लिखकर अपनी घोषणा देता है और उसे अपनी प्रेमिकाएँ वापस मिल जाती हैं। अन्त में एक सामूहिक नृत्य होता है।

कथानक तो हल्का ही था। लेकिन, कश्मीरी समाज और इतिहास की प्रवृत्तियों पर इससे प्रकाश पड़ता है। वादशाह और उसके दल के लोगों का दर्प और वनावट तथा कश्मीरी किसान की सादगी और विनोद-वृत्ति—इन दोनों का विपर्यय तरह-तरह से दर्साया गया। भाषा प्रायः कश्मीरी होते हुए भी उसमें फारसी, पंजाबी, हिन्दी और उर्दू के अनेक वाक्य थे। संवाद का आशुगुम्फन अत्यन्त सहजभावेन होता था। नट अक्सर सीधे प्रेक्षकों को सम्बोधित करते थे। यह अभिनय दिन में हुआ था। मंच नहीं था, दर्शक तीन ओर बैठे और खड़े थे।

एक ईसाई रंगशाला : ‘चाविट्टु नाटकम्’ :

कश्मीरी मुसलमानों का यह खेल इस बात का प्रमाण है कि मजहबी बन्धनों के बावजूद राजदरबार से बाहर साधारण कलावन्त रंगशाला और नाट्य की ओर आकृष्ट हुए।

लखनऊ और आगरा की नक्काल-मण्डलियाँ ऐसी दूसरी विधा हैं, जिनमें मुसलमान कलाकार काम करते हैं। किन्तु, ईसाई-समाज का एक ही परम्पराशील नाट्य भारतवर्ष में प्रचलित है। वह है मलाबार का 'चाविट्टु नाटकम्'। यों, १६वीं-१७वीं सदी में इटैलियन यात्री मानुची ने पाण्डिचेरी के पास एक चर्च में एक नाटक देखा और उसका विवरण लिख छोड़ा है; किन्तु शायद वह परम्परा लुप्त हो गई। परन्तु, 'चाविट्टु नाटकम्' भी १६वीं सदी में पुत्तंगाली शासकों ने मलाबार के हिन्दू-नाट्यों की स्पर्द्धा में चलाया। इसमें 'कूजेडो' के जमाने में जेरूसलम के पास सलादीन और यूरोप के बादशाह चार्ल्स की सेनाओं के संघर्ष का दृश्य दिखाया जाता है। पोशाक में मध्ययुगीन यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट है। चमक-दमक और भव्यता प्रचुर मात्रा में थी। 'चाविट्टु नाटकम्' के नटों के लिए प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था होती है। मुझे आश्चर्य है कि इस पूर्णतः भारतीय ईसाई नाट्य-परम्परा के विषय में बहुत कम जानकारी है।

वैष्णव रंगशाला : असम का 'अंकिया नाट' :

इस पुस्तक में असम के अंकिया नाट का अनेक स्थलों पर जिक्र आया है। मेरा अनुमान है कि परम्पराशील रंगशाला की सबसे अधिक सिलसिलेवार परम्परा अंकिया नाट में ही रही है। इस शैली का प्रवर्तन शंकरदेव ने बड़ी सूझ-बूझ और योजना के साथ किया और यद्यपि अब यह एक उपेक्षित शैली है, तथापि परम्पराशील नाट्य के इतिहास में इसका विशेष स्थान है।

मैंने असम-घाटी के नवगाँव नामक नगर से ८-१० मील दूर बड़दोवा नामक स्थान में शंकरदेव-विरचित 'रुक्मिणीहरण नाट' के कतिपय अंशों का अभिनय सन् १९५९ ई० में देखा। मैं अंकिया नाट की रंगशाला (जिसे 'भाओनाघर' कहते हैं) का वर्णन पहले ही कर चुका हूँ। भाओनाघर में रंगस्थली के खेलों और दर्शकों के लिए आसन बिछा दिये गये थे, जिन्हें सत्र, यानी मठ के भवत ही बुनते हैं और जिन्हें 'कठ' कहा जाता है। वहीं पर हमलोग बैठे। इस प्रदर्शन के पूर्वरंग में मुझे एक विराट् परम्परा और कलात्मकता का आभास हुआ और यह भी स्पष्ट हुआ कि महापुरुष शंकरदेव ने भरत-नाट्यशास्त्र के आदेशों को अंशतः पालन करने की चेष्टा की थी। नाट्यशास्त्र के अनुसार सबसे पहले प्रत्याहार होता है, यानी गान और वाद्यों द्वारा नाटक की भूमिका तैयार करना। पाश्चात्य रंगमंच में इसे 'प्रोलॉग' की संज्ञा दी जाती है। अंकिया नाट में यह एक विराट् प्रक्रिया है। हमने देखा कि दोहर पर बड़वायन (मुख्य वाद्यकार) और बड़गायन (मुख्य गायक) बैठे। उनकी दोनों ओर गायक बैठे, जिनके हाथ में पीतल के बड़े-बड़े झाँझ थे। इन झाँझों को वहाँ 'भोताल' कहा जाता है। हमें बताया गया कि 'भोताल' एक तिब्बती वाद्य के आधार पर बनाये गये थे और इसलिए शायद इनका मूल नाम 'भोटताल' था। गायकों के पार्श्व में कुछ नगाड़े रखे हुए थे, जो मुख्य नाटकों के समय कथानक की सन्धिविशेष अंकित करने के लिए बजाये जाते थे। सामने जो लीलास्थली थी, उसमें एक दूसरे के सामने दो पंक्तियों में वायन बैठे। दर्शक की ओर उनकी पीठ थी। दोनों पंक्तियों के आगे एक व्यक्ति 'अरिया' यानी

मशाल लिये हुए था। वायनों की गरदनोँ से खोल (जो यहाँ के विशेष प्रकार के डोल होते हैं), टँगे हुए थे। हर वायन सफेद धोती, कुरता अथवा चपकन तथा सफेद पगड़ी पहने हुए था। कमर में जो दुशाला बँधा हुआ था, उसे 'गाठी-कापड़' अथवा 'गुसाई-कापड़' कहते हैं। वाद्यकार अपने पैरों में नूपुर भी पहने हुए थे। हर वाद्यकार के लिए एक कठ अथवा आसन था। नृत्य प्रारम्भ होने पर वे आसन हटा दिये गये।

इन ध्वल श्रेणियों को देखकर सारे दर्शक-समाज में उत्सुकतापूर्ण शान्ति छा गई। वायनों ने इसके उपरान्त अपने खोलों पर जो प्रदर्शन किया, उसे 'धेमाली' के नाम से पुकारा जाता है। धेमाली ही अंकिया नाट का पूर्वरंग है। किन्तु, जिस तरह के तालों में धेमाली की रचनाएँ निबद्ध हैं, उसका व्रज-मण्डल के धमार से बहुत-कुछ साम्य है। हो सकता है कि महापुरुष ने अपने लम्बे व्रज-प्रवास में अनेक धमारों को सुनने के बाद खोल पर धेमालियों का रूप निश्चित किया। किन्तु, इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि अंकिया नाट के ताल-वाद्यों का प्रदर्शन मूलतः असम की प्राचीन वन्य जातियों की कौशलपूर्ण ताल-परम्परा पर आधारित है। जो प्रदर्शन हमने देखा, उसमें लगभग २० वाद्यकार थे। किन्तु, हमें बताया गया कि प्रत्येक धेमाली में ५० खोल बजानेवाले होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महापुरुष ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से इन नाट-योजनाओं में वन्य तथा अर्द्ध-वन्य जातियों की लोककला को भी समाविष्ट करने की चेष्टा की। असम की इस नाट-परम्परा के बराबर अन्य किसी नाट्य-परम्परा में खोल-वादन को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता। धेमाली जन-जीवन के विराट् तरव का महान् स्वरूप है।

सहसा नगाड़े पर संकेत हुआ। इस संकेत को सुनते ही वायनों की दोनों पंक्तियाँ उठ खड़ी हुई और फिर थापना की ओर (जहाँ श्रीमद्भागवत की प्रति स्थापित थी) वे लोग बढ़े और बहुत ही गम्भीर गति से खोलों पर निनाद प्रारम्भ हुआ। श्रीमद्भागवत के प्रति इस भाँति आराधना प्रारम्भ करने के बाद वायन-मण्डली उस तरफ मुड़ी, जहाँ सत्र, यानी मठ के प्रमुख बैठे थे। इस गति को गुरुधाप अथवा गुरुघेठा कहते हैं। श्रीमद्भागवत की आराधना तथा गुरु की अभ्यर्थना दोनों करते समय वायन-मण्डली के सभी वाद्यकार एक साथ अपने दाहिने हाथ का स्पर्श करते थे।

धेमाली, यानी सामूहिक खोल-वादन एवं गान में विशेष क्रमानुसार कई रचनाएँ (हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में जिन्हें बन्दिश कहा जायगा) प्रस्तुत की जाती हैं। हमारे सामने जो धेमाली प्रदर्शित हुई, उसमें पहली रचना थी 'कारू धेमाली' अथवा 'सारू धेमाली'। यह विलम्बित गति में एक लघु रचना थी। तदुपरान्त, 'बड़ धेमाली' बड़ी प्रभावशाली और गम्भीर गति में बजाई गई। तीसरी रचना का नाम था 'घोषा धेमाली', जिसमें राग सलोनी में एक वृन्दगान भी निबद्ध था। द्रुत गति का प्राधान्य था और चरमोत्कर्ष भी। घोषा वस्तुतः कीर्तन हैं, जिनको शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने रचा, और जिन्हें 'नाम-घोषा' भी कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि वाद्यकारों की पंक्तियों के एक सिरे पर एक व्यक्ति 'अरिया' यानी मशाल लेकर खड़ा हुआ था, मानों वायनों को रास्ता दिखाता हो। घोषा धेमाली के बाद वह व्यक्ति चला गया, मानों मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रही। घोषा

के उपरान्त 'मुड़ाखोला' नामक चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन हुआ। बड़वायन, यानी प्रमुख वाद्यकार लीलास्थली के केन्द्र में आया। लगभग दस खोल उसके चारों ओर भिन्न-भिन्न ढंग से रखे गये, कुछ को तो तीन-चार व्यक्ति लटकाये हुए थे। इन सभी खोलों पर बड़वायन ने बड़ी सफाई, कौशल और तीव्रगति से वादन किया और उसके लाघव को देखकर दर्शक-समाज चकित रह गया। इसपर मठ के सत्ताधिकारी ने बड़वायन को पुरस्कार-स्वरूप एक निर्माल्य और एक कलापूर्ण पुनीत वस्त्र दिया। मुख्य गायक, यानी बड़गायन को भी इसी प्रकार का पुरस्कार दिया गया और अन्य सभी वायनों और गायनों को भी निर्माल्य दिये गये।

उसके बाद सभी वायन (वाद्यकार) शरासन में बैठे और अपने-अपने खोल को उन्होंने खड़ा कर दिया, तबले की तरह। कई चित्ताकर्षक रचनाएँ त्वरित गति से उन्होंने उसी भाँति बैठे हुए प्रस्तुत कीं। अन्त में 'नवधेमाली' नामक रचना में वायनों ने एक चक्राकार नृत्य किया और नृत्य के साथ-साथ वे लोग खोल भी बजाते रहे।

मुझे बताया गया कि हमारी सुविधा के विचार से धेमाली केवल ४५ मिनट तक ही प्रदर्शित की गई, वरना दो घण्टे से कम अवधि में धेमाली का सम्पूर्ण और विधिवत् प्रदर्शन नहीं हो सकता। धेमाली में दो विशेषताएँ थीं। एक तो खोल बजाने के साथ-साथ उन्हीं हाथों से वायन लोग नाना प्रकार की हस्तमुद्राएँ भी दिखाते थे। ये मुद्राएँ निश्चय ही हस्तमुक्तावली में दिये गये निर्देशनों के अनुसार थीं। दूसरे वायनों के पैरों में बँधे नूपुर बराबर तालों के संकेत दे रहे थे, उन्हें अलंकृत कर रहे थे। तालनृत्य का ऐसा सम्मोहक सामूहिक स्वरूप हमने अन्यत्र नहीं देखा। धेमाली का यह कार्यक्रम दूर-दूर से दर्शकों को आमन्त्रित तो करता ही है, जो लोग मण्डप में आ गये, उनकी चित्तवृत्तियों को मूलनाटक के लिए सावधान कर देता है। वातावरण के निर्माण में धेमाली का वही स्थान है, जो पाश्चात्य 'ओपरा' में 'ओवर्चर' का।

इसके बाद मुख्य अभिनय प्रारम्भ हुआ। रंगस्थली से वायनों का समूह चला गया और वे गायनों के पीछे जाकर बैठ गये। गायन-वायन के बाईं ओर जहाँ 'छघर' (नेपथ्य-गृह) था, दो व्यक्ति लकड़ी का एक सुचित्रित तोरण या मेहराव लेकर खड़े हो गये। तोरण के नीचे दो और व्यक्ति एक पदों को फैलाकर खड़े हुए। यही पर्दा 'आड़-कापड़' था, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। तोरण पर कई मशालें एक साथ जला दी गईं और ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी मेहराव के ऊपर लपटों की पाँत लगा दी गई हैं। पदों के पीछे से एक संस्कृत-स्तोत्र सुन पड़ा और उसके बाद पदों को अपने हाथों से एक ओर हटाकर सूत्रधार सामने आया। जिस समय सूत्रधार पदों से बाहर होकर तोरण के नीचे से गुजर रहा था, उस समय तोरण पर जलाई गई मशालों या अरिया की उपयोगिता प्रकट हुई। प्रथम प्रवेश के समय ये ज्योतिपुंज पात्र की आकृति, भाव-भंगिमा और 'मेकअप' इत्यादि को सारे दर्शक-समाज के लिए प्रदीप्त कर देते हैं। यह एक तरह का ज्योतित परिचय है और प्रधान पात्र-पात्रियों के लिए ही इसका विधान है। इस ज्योतित तोरण को 'अग्निघेर' कहते हैं। जान पड़ता है कि लोक-नाटकों के पात्रों के निकट मशाल लेकर खड़े होने की जो पद्धति थी, उसी का कलात्मक रूप है 'अग्निघेर'।

सूत्रधार नृत्य करते हुए रंगस्थली की ओर बढ़ा। सूत्रधार की वेशभूषा इस नाट्य-पद्धति की प्राचीनता का द्योतक है। नीचे मध्ययुगीन लहंगे के ढंग का लहरेदार वस्त्र था, जिसे 'धूरी' कहते हैं। इसका रंग सफेद था। ऊपर गुलाबी रंग का एक जामा था—जामे की आस्तीन लम्बी और ढीली थी। इस जामे को 'गाठी-सेला' कहते हैं। कमरबन्द को 'गाठी-कापड़' कहते हैं। सिर पर एक रंगीन पगड़ी थी। यह पोशाक शंकरदेव के समय से ही अपरिवर्तित है और इन नाटकों में सूत्रधार के महत्त्व की सूचक है।

सूत्रधार के लीलास्थली में आते ही गायन-वायन ने नान्दी-पाठ प्रारम्भ कर दिया। नान्दी के विभिन्न अंशों—देवी-देवताओं के स्वरूपों और उनके क्रिया-कलापों को सूत्रधार अपनी हस्तमुद्राओं द्वारा प्रदर्शित कर रहा था। मुद्राओं का अत्यन्त रोचक और सजीव प्रयोग नान्दी-पाठ के बाद 'भट्टिमा' में सूत्रधार ही करता है। भट्टिमा एक तरह का स्तवन है और इसका पाठ लयपूर्ण तो होता है, किन्तु प्रायः रागनिबद्ध नहीं। इसमें नाटक के नायक, यानी श्रीकृष्ण के पराक्रम और उनकी लीलाओं का प्रशंसात्मक वर्णन था। सूत्रधार बोलता भी था और परम्परागत और शास्त्रोक्त ('हस्तमुक्तावली' के अनुसार) मुद्राओं का भी प्रयोग करता था। श्रोताओं और दर्शकों से बोलते समय तो वह दाहिनी भुजा की कोहनी को बाईं हथेली पर टेक कर दाहने हाथ को आशीर्वाद-मुद्रा में हिलाता था।

इसके बाद थोड़ी देर के लिए कई वाद्य एक साथ बजाये गये और सूत्रधार ने संगी से पूछा कि 'हे संगी कौन वाद्य बज रहा है।' संगी ने उत्तर दिया कि 'देवदुन्दुभी बजती है।' सूत्रधार ने घोषित किया कि तब तो स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण पधारते हैं। हमने देखा कि सूत्रधार के पास कोई संगी नहीं खड़ा हुआ था। बाद में हमें बताया गया कि बड़गायन ही इस प्रश्नोत्तरी में संगी के रूप में हिस्सा लेता है, वह अपने स्थान से उठता नहीं है, वहीं बैठे-बैठे बोलता रहता है। यहाँ दो विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं : एक तो यह कि संस्कृत-नाटकों की नटी के स्थान पर पुरुष 'संगी' का विधान किया गया है। दूसरे यह कि वाद्यों के प्रखर वादन से नायक और नायिका के आगमन की सूचना दी जाती है। इस तरह सूत्रधार और प्रमुख गायक तथा उसके माध्यम से नेपथ्यगृह के बीच तारतम्य रहता है। सूत्रधार ने नायक के प्रवेश के विषय में इसके अतिरिक्त एक विरुद्धपूर्ण घोषणा की और कहा कि 'सभासद लोग, जिन श्रीकृष्ण का स्तवन मैंने किया है, वे इस सभा में पधारते हैं, उनकी लीलाओं को शान्त रहकर देखो और सुनो।' हमने देखा कि सूत्रधार इस भाँति दर्शकों पर अनुशासन भी रख पाता था और बार-बार दत्तचित्त होकर देखने और सुनने का अनुरोध करके उनका ध्यान कथा की ओर खींच पाता था।

श्रीकृष्ण के आगमन के लिए उसी तरह 'अग्निघेर' और 'आड़-कापड़' की व्यवस्था हुई, जैसे सूत्रधार के प्रवेश पर हुई थी। उद्भव का हाथ पकड़े श्रीकृष्ण लीलास्थली की ओर बढ़े। कृष्ण लाल रंग की धोती और कुरता पहने थे, सिर पर मुकुट और वक्ष पर 'तंगाली' नामक रंग-विरंगा और सुन्दर अंगवस्त्र कसा हुआ था। हाथ भी लाल रंग में रंगे थे और एक हाथ में चक्र था। नूपुर भी पहने थे। लीलास्थली में आते समय कृष्ण (और उनके साथ उद्भव) ने 'प्रवेश-नृत्य' किया और उस नृत्य के साथ-साथ गायन-वायन ने उनकी महिमा में गीत गाया। गीत में जिस रूप, भंगिमा इत्यादि का वर्णन था, उसे कृष्ण और

उद्धव नृत्य-मुद्राओं द्वारा प्रकट कर रहे थे—‘नटवर वैसे’, ‘वदनइन्दु रुचि ईसत हासा’, ‘नयन पंकज’, ‘भुज लम्बित जानु’ इत्यादि।

इस नृत्य के बाद सूत्रधार (जो गायन-वायन के निकट बैठ गया था) पुनः आगे आकर बोला कि ‘हे सभासद लोग, इस प्रकार श्रीकृष्ण प्रवेश करके एक तरफ (एक पास-हुया) विराजमान हो गये। अब तुमलोग रुक्मिणी का प्रवेश देखो और सुनो।’ श्रीकृष्ण और उद्धव एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए आगे बढ़े और लीलास्थली के एक किनारे एक चौकी पर, जिसपर छोटा-सा मण्डप तना था, बैठ गये। यह मण्डप द्वारका के राजभवन का सूचक था और इसके आगे एक गदाधारी द्वारपाल भी खड़ा हो गया। इस मण्डप के ढंग के तीन और मण्डप थे। एक तो भीष्मक की राजधानी कुण्डिनपुर में राजदरवार का द्योतक था, दूसरा उन्हीं के रनिवास का और तीसरा भवानी-मन्दिर का। सूत्रधार ने फिर संगी से पूछा—‘कौन वाद्य बजा?’ उत्तर मिला—‘देववाद्य।’ सूत्रधार ने रुक्मिणी के सखियों-सहित आगमन की घोषणा की। पुनः वही अग्निघेर और आड़-कापड़ तथा प्रवेश-नृत्य और गायन-वायन द्वारा प्रवेश-गीत। रुक्मिणी के साथ तीन सखियाँ थीं। वे मेखला पहने थीं (कमर के नीचे के अंगों को ढकनेवाली असमिया साड़ी) और ऊपर कंचुकी और चादर। सोने-चाँदी के अलंकार और चूड़ियाँ भी थीं। दोनों ही प्रवेश-नृत्यों में सख्य-भाव दीख पड़ा। रुक्मिणी सखियों-सहित रनिवासवाले मण्डप में बैठ गई।

सूत्रधार ने कथासूत्र को आगे बढ़ाते हुए सुरभि नामक भिक्षुक भाट के कुण्डिनपुर से द्वारका आने की सूचना दी। भाट साधारण व्यक्ति था, अतः इस प्रवेश के साथ ‘अग्निघेर’ और ‘आड़-कापड़’ की व्यवस्था नहीं थी। भाट लाल पगड़ी और पीली धोती पहने हुए था और एक हाथ में कमण्डल और दूसरे में कागज का बना छाता लिये हुए था। उसकी वेशभूषा और भाव-भंगिमा में समसामयिक यथार्थता थी, जबकि प्रमुख पात्र-पात्रियों में परम्परा का अनुसरण। इस तरह एक ही परिस्थिति में दो विभिन्न रसों का संचार जान पड़ता। सुरभि भाट ने श्रीकृष्ण को अपना परिचय दिया और दोनों के बीच लघु संवाद के बाद सुरभि ने रुक्मिणी के रूप-गुण-वर्णन का पाठ किया। ऐसे पाठ को ‘भटिमा’ कहते हैं। हमने देखा कि कृष्ण-सुरभि का संवाद गद्य में था और ‘भटिमा’ पद्य में। संवाद का उच्चारण लय के साथ किया जाता था और हर तीन-चार शब्दों के बाद लघु विराम था और वाक्य-समाप्ति पर दीर्घ विराम। मेरा अनुमान है कि इस उच्चारण-पद्धति द्वारा प्रत्येक शब्द श्रोताओं पर स्पष्ट हो जाता था, यद्यपि यह लयात्मकता अस्वाभाविक जान पड़ती थी। भटिमा छन्दोबद्ध होते हुए भी गाई नहीं जाती। काव्यगुण हृदयग्राही थे (‘वन्दुलि अधिक अधर करु कांति। श्रोतिम मोतिम दसनक पांति।’) और श्रीकृष्ण जिस भाँति इस वर्णन को सुनकर विह्वल हुए, उसमें रसनिष्पत्ति के अनेक तत्त्व, संचारी, व्यभिचारी, भावानुभाव इत्यादि की प्रगति दीख पड़ी।

इसी भाँति सूत्रधार की घोषणा के बाद द्वारका से कुण्डिनपुर-रनिवास में दूसरे ब्राह्मण भाट हरिदास का आगमन दिखाया गया और रुक्मिणी के सामने श्रीकृष्ण का रूप-गुण-वर्णन। रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के प्रेम में विह्वल होकर जो गीत गाया, उसमें विरहो-

त्कण्ठिता नायिका के लक्षण स्पष्ट थे। शब्दियों के साथ वार्त्तालाप लग के साथ कहा गया, न कि स्वाभाविक वार्त्तालाप की तरह। वस्तुतः, प्रायः सभी गद्य वार्त्तालाप की शैली में कहे गये— एक-एक शब्द स्पष्ट, हरेक वाक्य कुछ पदों में विभक्त और हर पद के बाद लघु विराम।

सूत्रधार ने आगे आकर सूचना दी कि कुण्डिनपुर के नरेश भीष्मक पधारते हैं। राजा भीष्मक और रानी शशिप्रभा का प्रवेश उन दोनों के पद और आयु के अनूकूल था। उन लोगों ने नृत्य नहीं किया, बरन् मन्थर और राजोचित गति में आगे बढ़े। भीष्मक की वेशभूषा थी धोती, लम्बी चपकन, जिसपर सलमे-सितारे का काम था, तथा राजसी पगड़ी। साथ में जातिलोग (अर्थात्, राजा के पार्षद) भी आये। संवाद में राजा और राज-महिषी ने रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण से करने का निश्चय प्रकट किया। रुक्मिणी की सखी लीलावती पास खड़ी थी और फिर वह रनिवास के मण्डप में गई और यह शुभ समाचार रुक्मिणी को सुनाया। सूत्रधार ने कहा कि आपलोग देखिए कि इस समाचार को सुनकर कैसे आनन्दमग्न हो रुक्मिणी नृत्य करती हैं। उसी रंगस्थली के एक ओर राजसभा और पार्श्व में रुक्मिणी का सोल्लास नृत्य और गान हुआ।

सूत्रधार की घोषणा के बाद भीष्मक के पुत्र रुक्म का प्रवेश हुआ। उसकी प्रवेश-भंगिमा और चाल विलकुल भिन्न थी। वह जमीन पर जोर-जोर से पदाघात करता हुआ और अपने खड्ग को हिलाता हुआ आया। स्पष्ट है कि पात्र की चारित्रिक विशेषताओं के अनुसार प्रवेश-मुद्राओं का निर्धारण अंकिया नाट्य-पद्धति का महत्त्वपूर्ण अंग है और उनके द्वारा विभिन्न रसों का संचार सहज ही हो जाता है। रुक्म का दर्प उसकी कर्कश वाणी और उद्दण्ड चेष्टाओं में लक्षित था। पिता-पुत्र का संवाद और स्वयंवर का निश्चय—इसे सुनकर सखी ने रुक्मिणी को दुःख-समाचार दिया। उल्लासपूर्ण नृत्यगान के विपरीत विरहतापमग्ना रुक्मिणी का दूसरा नृत्य, उसकी गिर-गिर पड़ने की भंगिमा, सभी ने दर्शकों की भावभूमि को पुनः बदल दिया। आधुनिक दृष्टिकोण से विलाप-गान लम्बे और अस्वाभाविक जान पड़े, किन्तु दर्शकों पर उनका प्रभाव स्पष्ट था। रुक्मिणी की विभिन्न मुद्राओं और चेष्टाओं का वर्णन सूत्रधार बार-बार सामने आकर करता था। इधर भीष्मक इत्यादि दूसरे मण्डप में बैठ गये थे। मैंने देखा कि एक ओर तो रुक्मिणी का विप्रलम्भ-गान हो रहा था और दूसरी ओर स्वयंवर के लिए आनेवाले राजाओं के लिए आसन रखे जा रहे थे।

करुण रस के प्रवाह में लघु विराम के तुल्य एक विनोदपूर्ण परिस्थिति का आरोपण हुआ। रुक्मिणी सखी से कहती है कि हमारे शुभचिन्तक वेदनिधि ब्राह्मण को बुला लाओ। यद्यपि लिखित नाटक में वेदनिधि की चारित्रिक विशेषताओं अथवा व्यवहार का कोई संकेत नहीं है, तथापि अभिनय में उसे परिहास और विनोद के माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया गया। रुक्मिणी अपनी व्यथा का वर्णन करती है उसी परम्परागत लयात्मक ढंग से; किन्तु वेदनिधि उत्तर देता है रोजाना की बातचीत के ढंग से। उसकी भंगिमा, उच्चारण, मुद्राएँ, समसामयिक जीवन से मेल खाती हैं। रुक्मिणी का वेदनिधि को द्वारकापुरी भोजना, वेदनिधि की लम्बी यात्रा, उसका श्रीकृष्ण से निवेदन, उसके कुण्डिनपुर लौटने में विलम्ब, रुक्मिणी की बेताबी, विरह-वेदना और बार-बार मूर्च्छित होना—इन सारे प्रसंगों के

प्रस्तुतीकरण में दो विभिन्न रसों—करुण और हास्य का अद्भुत विपर्यय ('कण्टास्ट') दिखाया गया। कभी दर्शकों के मन में तनाव होता, कभी ढील। वेदनिधि कुण्डिनपुर से द्वारका जाता है, तो लीलास्थली में एक मण्डप के पाँच गज के फासिले में कई बार ऐसे चक्कर लगाता, मानों मीलों चल रहा हो और कभी दौड़ता, कभी हाँफता, कभी थकान का आभास देता। दर्शकों का खासा मनोरंजन हो रहा था।

इस बीच रंगस्थली में एक-एक करके राजा लोग स्वयंवर के लिए आये। हरेक राजा का प्रवेश करने का ढंग निराला था और इस प्रदर्शन में बहुत कुछ 'पैण्टोमाइम' (मूकाभिनय) की झलक दीख पड़ी। वस्तुतः, चेष्टाओं द्वारा पात्र के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भारतीय अभिनय-शैली का विशेष अंग है।

यहाँ सम्पूर्ण कथानक का विवरण करना तो अनावश्यक होगा, किन्तु प्रदर्शन में कुछ स्थल मनोरंजक और उल्लेखनीय थे। श्रीकृष्ण स्वयंवर में आने के लिए राजी हो जाते हैं। मण्डप से उठकर कृष्ण 'छघर' (नेपथ्यगृह) में गये। वहाँ से कागज, कूट और कपड़े का बना हुआ रथ दर्शकों के पीछे से थापना के निकट से लाया गया है। यह अमत्कारपूर्ण प्रदर्शन (स्पेक्टैकल) का नमूना था और नाटक तथा शिल्पकला के परम्परागत सम्बन्ध का उदाहरण। सूत्रधार रथ की तीव्र गति का वर्णन करता है और वेदनिधि ब्राह्मण तेजी को सहन न कर सकने से अचेत हो जाने का अभिनय करता है। यह बड़ा रोचक प्रसंग था।

इधर भवानी की पूजा के लिए रुक्मिणी जाती है और पूजन भी यथावत् दिखाया गया। जब पूजन के बाद रुक्मिणी सखियों-सहित राजसभा में आई, तब उसके सौन्दर्य से विमोहित होकर राजे लोग जैसा व्यवहार करते हैं, उसका सूत्रधार वर्णन करता है और तदनुसार राजे लोग चेष्टाएँ करते हैं। वर्णन और अभिनय का यह तारतम्य कुशलता से निवाहा गया और इस प्रसंग में दर्शक-समाज का मनोरंजन भी होता है। सखियों-सहित रुक्मिणी के मन्दिर और राजदरवार में जाने की गति भी एक तरह का मन्थर-नृत्य जान पड़ता है। और उस समय भी गायन-वायन गीत गाते हैं—रंगिनी सखि संगिनी बाला। चललि जैसे चांदकेरि कला। इस तरह चलने के ढंग को लीलागति में चलना कहा जाता है।

सभा के बीच में से कृष्ण के रुक्मिणी को हरकर रथ की ओर ले जाने पर शिशुपाल एवं अन्य राजाओं की उत्तेजना को दिखाने के लिए वह विशाल रंगस्थली विशेष उपयुक्त थी। युद्ध का प्रदर्शन प्रभावशाली था; क्योंकि द्वन्द्वयुद्धों की चेष्टाओं के अनुसार वाद्यकार लय और ताल देते जाते थे, गायक बीच-बीच में घोर युद्ध का गीतों में वर्णन करते थे और सूत्रधार नवीन प्रसंग की घोषणा करके कथानक को आगे बढ़ाता जाता था। द्वन्द्वयुद्ध में योद्धा गोलाकार दायरे में युद्ध कर रहे थे। विजयोपरान्त रुक्मिणी के निवेदन पर कृष्ण ने रुक्म को मारा तो नहीं, किन्तु जिस भाँति उसकी दाढ़ी उखाड़कर उसके मुख पर कालिख पोती—इस प्रसंग ने रौद्र रस के बाद पुनः हास्य रस का संचार किया। तदुपरान्त रुक्मिणी-श्रीकृष्ण-मिलन में शृंगार रस उमड़ा। विवाह-प्रसंग में ब्रह्मा का रुक्मिणी के सौन्दर्य से विमोहित होकर मूर्च्छित होना—यह पुनः हास्य का प्रेरक हो गया। इस भाँति रौद्र, हास्य और शृंगार रस के एक साथ संचार के फलस्वरूप कथानक में नवीनता न होने के

बावजूद अनेक तालों और लयों में अभिनय की विविधता प्रतिबिम्बित थी। इस तरह दर्शक-समाज का ध्यान अभिनय-केन्द्रित रहा।

अन्त में मुक्तिमण्डल का पाठ हुआ, जिसे भरतवाक्य और श्रीकृष्ण के स्तवन का सम्मिश्रण कह सकते हैं। भटिमा की भाँति ही इसका पाठ किया गया—लयात्मक काव्य पाठ, न कि तालयुक्त गान। हर चतुर्थ पंक्ति थी—सोहि करत नित्य मुकुति तोहार; और इसपर वायन लोग हर बार खोल पर ताल देते थे।

अभिनय के उपरान्त एक और संस्कार सम्पन्न हुआ, मुख्य अतिथि को आशीर्वाद। यह भी गायन-वायन द्वारा प्रस्तुत किया गया। मुख्य अतिथि ने सत्र के लिए भेंटस्वरूप कुछ द्रव्य दिया। तदुपरान्त, गायन-वायन ने पुनः कल्याणसूचक गीत गाया और मुख्य अतिथि को पीतल के पात्र में (जिसे 'सराई' कहते हैं) ताम्बूल दिया गया। इस तरह उस रात्रि का अभिनय समाप्त हुआ। मुझे बताया गया कि नाटक को अंशतः प्रस्तुत करना परम्परा का दण्डनीय उल्लंघन है और चूँकि उस रात्रि का अभिनय सांगोपांग नहीं था, इसलिए प्रायश्चित्त-स्वरूप पुनः नाटक का अभिनय सुविधानुसार किया जायगा।

× × × × ×

मध्ययुगीन भाषा-नाटकों के रंगमंच का मूल रूप असम में इसलिए अक्षुण्ण रह सका कि वह धार्मिक परम्परा का एक अंग बन गया और सत्रों जैसी सुव्यवस्थित और बहुत कुछ सम्पन्न संस्था के संरक्षण में अभिनयों का ताँता चलता रहा।

मिथिला और नेपाल की उपत्यका में, जहाँ उत्तरी भारत के भाषा-रंगमंच का प्रारम्भिक उत्थान हुआ था, यह रंगमंच तबतक ही जीवित रहा, जबतक इस क्षेत्र में हिन्दू-राज्य प्रभावशाली रहे। वर्तमान दरभंगा-राज में १९वीं सदी के अन्त तक कीर्त्तनियाँ नाटकों के प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख मिलता है। दरभंगा-राज के वर्तमान महल में एक नाट्यगृह भी है। किन्तु, इस समय न तो कीर्त्तनियाँ नाटक प्रस्तुत करनेवाली कोई सुव्यवस्थित मण्डली ही है और न संरक्षण ही उपलब्ध है। १९वीं सदी के अन्त तक आते-आते यह रंगमंच अपने मूल रूप को अक्षुण्ण रख सका, यह भी सन्दिग्ध है। असम के मठों में रंगमंच धार्मिक प्रतिबन्धों के फलस्वरूप बाहरी सांस्कृतिक प्रभावों से अछूता रहा; परन्तु मिथिला और नेपाल में १७वीं सदी तक राज्य-संरक्षण के अन्तर्गत रंगमंच राज-दरबार की रुचि के अनुकूल परिवर्तित होता रहा होगा। जो नाट्यगृह मैंने दरभंगा-राज के महल में देखा, वह बहुत पुराना नहीं है और उसपर १९वीं सदी का पाश्चात्य प्रभाव लक्षित होता है।

अतः, मध्ययुगीन रंगमंच के स्वरूप का अनुमान हम असम के अक्रिया नाट के अतिरिक्त, उसी क्षेत्र की कतिपय स्थानीय लोक-परम्पराओं से ही कर सकते हैं। मुझे अबतक दो ही ऐसी स्थानीय लोक-विधाओं के अस्तित्व की जानकारी मिली है, जो मध्ययुगीन रंगमंच की प्रतिध्वनि मानी जा सकती हैं। एक तो नेपाल का 'कातिक नाच' और दूसरा पूर्णिया जिले के ग्रामीण अंचल का 'विदापत नाच'। आंचलिक अथवा ग्रामीण कला की यह विशेषता रही है कि वह न तो संरक्षक राजाओं की बदलती रुचियों का ही अनुमोदन करती है

और न धार्मिक प्रतिविम्बों के कारण बाहरी प्रभावों से सर्वथा विलग रहती है। इसीलिए, उसमें पुरातन की मणियाँ भी, धूलिधूसरित ही सही, मिल जाती हैं, और नये अंलकार का भी अभाव नहीं होता। यदि कमी है, तो परिष्कार, सज्जा और सुसंस्कृत साहित्य की। भोंड़े और अव्यवस्थित लोक-रंगप्रदर्शन में भी अध्येता को मध्ययुगीन रंगमंच की धरोहर के दर्शन हो सकते हैं, यह 'विदापत नाच' के निम्नलिखित वर्णन से सिद्ध हो जाता है।

बिदापत नाच : उत्तर बिहार की अल्प-परिचित प्रदर्शन-विधा :

बिहार के पूर्णिया जिले में 'विदापत नाच' इस नाम से एक आंचलिक नाटक की परम्परा है। इसमें मध्ययुगीन मिथिला के कीर्त्तनियाँ नाटक तथा असम के अंकिया नाट, दोनों की झलक दीख पड़ती है। मण्डलियों में प्रायः किसान और मजदूर होते हैं—अधिकतर हरिजन-वर्ग के।

सन् १९६० ई० में पूर्णिया जिले के झिरवा नामक गाँव में आकाशवाणी, पटना-केन्द्र की ओर से श्रीफणीश्वरनाथ 'रेणु' ने उस गाँव की एक मण्डली द्वारा प्रस्तुत 'पारिजात-हरण' नामक नाटक के कुछ अंशों के रेकार्डिंग किये। उस सिलसिले में 'विदापत नाच' की पद्धति के विषय में कई रोचक बातें ज्ञात हुईं। 'पारिजातहरण' नामक नाटक विद्यापति का लिखा नहीं, बल्कि उमापति उपाध्याय का लिखा हुआ है। मिथिला और नेपाल के कीर्त्तनियाँ नाटकों में यह काफी पुराना है और इसका रचनाकाल सन् १३२५ ई० के आसपास माना जाता है। 'पारिजातहरण' के ही नाम से महापुरुष शंकरदेव ने असम में १५वीं सदी के आसपास एक दूसरा नाटक लिखा, जो रंगमंचीय तत्त्वों में उमापति उपाध्याय के नाटकों की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। झिरवा गाँव के जनकदास की मण्डली ने जो 'पारिजातहरण' खेला, उसके लेखक का नाम वे नहीं दे सके। किन्तु, जान पड़ता है कि उसमें दोनों ही नाटकों का सम्मिश्रण है। मंच और अभिनय-परम्परा में असमिया अंकिया नाट का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। किन्तु, चूँकि कीर्त्तनियाँ नाटक के अभिनय की कोई और परम्परा ज्ञात नहीं है, इसलिए पूर्णिया जिले की इस परम्परा में ही शायद कीर्त्तनियाँ के अवशिष्ट चिह्न विद्यमान हैं।

मण्डली के नेता जनकदास हैं और अन्य उपनेता मूंगीलाल हैं और मोहनलाल। नेता को 'मूलगाइन' कहते हैं। ध्यान देने की बात है कि असमिया अंकिया नाट में भी प्रधान गायक को मूलगाइन कहते हैं। असमिया अंकिया नाट में बाद्यकार के लिए एक और शब्द है बायन। सम्भव है, यहाँ भी यह शब्द प्रचलित रहा हो। 'मूलगाइन' के साथियों को 'समाजी' भी कहा जाता है।

जिस स्थान पर पात्र अपनी सज्जा करते हैं, उसे यहाँ 'साज-घर' कहा जाता है। इसकी तुलना असमिया-नाटक के 'छघर' या 'छद्मगृह' से की जा सकती है।

नाटक प्रारम्भ होने से पहले मृदंग और खोल के ऊपर काफी देर तक सामूहिक वादन होता है। इसे यहाँवाले 'जमीनिका' कहते हैं। 'जमीनिका' का अर्थ है भूमिका और

निश्चय ही यवनिका-उत्थान में जो वाद्यवादन और गान होता है, उसी का नाम यहाँ 'जमीनिका' होगा।

'जमीनिका' के बाद नाटक के प्रारम्भ में भगवती-वन्दना और तदुपरान्त अन्य देवताओं की वन्दना होती है। भगवती-वन्दना विद्यापति-रचित है और चूँकि प्रत्येक नाटक के प्रारम्भ में यह वन्दना प्रस्तुत की जाती है, इसलिए यह जान पड़ता है कि इस प्रकार के नाटकों को गाँव में 'विद्यापत नाच' कहने लगे। इस वन्दना का नेतृत्व भी मूलगाइन करते हैं। मृदंग प्रायः मौन रहता है और शब्द बहुत स्पष्ट। सभी वन्दनाएँ वर्तमान-लोकगीतों के स्तर से उच्च जान पड़ी। भगवती-वन्दना के बाद गुरु-वन्दना और लक्ष्मी-वन्दना भी कही गई।

इसके उपरान्त, 'पारिजात नाटक' का परिचय दिया जाता है विकटा, यानी विदूषक तथा नायक के बीच एक संक्षिप्त संवाद के माध्यम से। इस संवाद में नायक विदूषक को बताता है कि हमलोग भड़ैती करने के लिए जमा नहीं हुए हैं, बल्कि 'पारिजात-हरणनाटक' दिखाने के लिए। विदूषक पारिजात को 'परजात' समझता है और कहता है तुमलोग हमारी जात बदलने के लिए आये हो?

कुछ इसी ढंग की छेड़छाड़ के बाद 'गणेश-सुमिरन' गाया जाता है। विघ्नहरण देवता गणेशजी का स्मरण प्रायः सभी लोकनाटकों में किया जाता है—चाहे दक्षिण भारत में, चाहे उत्तर भारत में।

विकटा को घुँघरुओं की आवाज सुनाई पड़ती है। पूछने पर नायक उसको बताता है कि राधिकाजी सखियों के साथ आ रही हैं। 'पारिजातहरण' में राधिकाजी सखियों के साथ आ रही हैं, यह कैसी अजीब बात है। नायक समझाता है कि हमारे किसी भी नाटक में रासनृत्य होना आवश्यक है और रासनृत्य राधिकाजी और उनकी सखियाँ ही कर सकती हैं। राधा और उनकी सखियाँ आती हैं और तब एक सामूहिक नृत्य के साथ दो पद, जिन्हें विद्यापति के पद कहा गया है, नृत्य के साथ-साथ गाये जाते हैं। दो पदों में से एक तो निश्चय ही विद्यापति का है। यह भी स्पष्ट है कि इन पदों का साम्य आजकल की होली और चैती धुनों से है।

यह रासनृत्य एक दूसरी प्राचीन परम्परा का अवशिष्ट चिह्न है। निस्सन्देह, जयदेव के 'गीतगोविन्द' ने जिस तरह के रासनृत्यों की परम्परा चालू की, वह विकृत रूप में ही सही, इन कलाकारों ने अपने ढंग से सुरक्षित रखी है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'विद्यापत नाच' में विद्यापति के नाम, जयदेव के वृन्दगान तथा असमिया-अंकिया नाट एवं मैथिली कीर्तनियाँ नाटक सभी का सम्मिश्रण है।

अब 'पारिजातहरण' नाटक का मुख्य कथानक प्रारम्भ होता है। कृष्ण आते हैं और उनके थोड़ी देर बाद नारद। इन दोनों के प्रवेश की कथा कविता में कही जाती है। नारद का सिर घुटा हुआ है, धोती पहने हुए हैं और हाथ में छिपाकर पारिजात का फूल लिये हुए हैं। कृष्णजी के पीछे-पीछे जरी की साड़ी पहने हुए रुक्मिणीजी का प्रवेश होता है। पथ के बीच-बीच में गद्य में संवाद चल पड़ता है।

कृष्ण पूछते हैं कि किस कारण हमारे चारों ओर एक दैवी सुगन्ध फैल गई? नारद हाथ खोलते हैं और अपने हाथ में छिपाये हुए पारिजात के फूल को सामने कर देते हैं। पारिजात की प्रशंसा में सामूहिक गीत गाया जाता है। नारद कृष्णजी को फूल अर्पित कर देते हैं। कृष्ण पूछते हैं कि यह फूल किसे दूँ। नारद का उत्तर है कि फूल लेने के लिए तो सत्यभामाजी ने कहा था, किन्तु चूँकि रुक्मिणीजी यहीं मौजूद हैं, तो फूल क्यों न उन्हीं को दे दिया जाय।

कृष्ण पारिजात-पुष्प को रुक्मिणी के हाथ में दे देते हैं।

रुक्मिणी अपने को धन्य मानती है। गीतों के सहारे कथा आगे बढ़ती है। इधर लीलास्थली पर सत्यभामा की दासी जाती है और उसके कानों में भनक पड़ती है कि पारिजात-पुष्प रुक्मिणी को दे दिया गया है।

रुक्मिणी शब्द का उच्चारण 'रुकुनि', इस रूप में किया गया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि असमिया नाटक के कुछ गीतों में भी 'रुकुनि' रूप का ही व्यवहार होता है।

सत्यभामा का प्रवेश और कुछ शिक्षक के वाद, मन्थरा की भाँति दासी, सत्यभामा को पूरी कथा सुनाती है और उसके कान भरती है।

सत्यभामा क्रुद्ध होकर नारद को बुलाने को कहती है। नारद पहले से ही मौजूद हैं और कहते हैं कि यह सब श्रीकृष्ण की नासमझी है। पारिजात उन्हें रुक्मिणी को नहीं देना चाहिए था। सत्यभामा कोप-भवन में चली जाती है।

कृष्ण का प्रवेश और नारद का उन्हें सारी कथा सुनाना। नारद कहते हैं कि यह फूल आप सत्यभामा को दे दीजिए। वे कोप-भवन में पड़ी हैं। कृष्ण रुक्मिणी की ओर देखते हैं। रुक्मिणी कहती हैं कि हे मुरारि, मैं हरगिज यह फूल नहीं दूँगी।

इसके उपरान्त कृष्ण रंगस्थली में सत्यभामा के पास जाते हैं, जहाँ वे अपने आभूषण इधर-उधर फँके बैठे हैं। मूलगाइन सत्यभामा के रूठने और कृष्ण का उन्हें मनाने का बड़ा सजीव वर्णन गीत के रूप में करता है। कृष्ण-सत्यभामा-संवाद इस नाटक का उल्लेखनीय अंश है—पहले गद्य में, बाद में गीतों में।

कृष्ण वायदा करते हैं कि पारिजात फूल क्या, वे पारिजात-वृक्ष ही सत्यभामा के लिए लाकर उपस्थित कर देंगे। सत्यभामा प्रसन्न हो जाती है और फिर आभूषण पहनते हुए भवानी की वन्दना करती है। इस वन्दना-गीत की धुन में राजस्थानी लोक-गीतों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है।

कृष्ण नारद को गद्य में आदेश देते हैं कि वे इन्द्रपुरी जाकर इन्द्र से पारिजात-वृक्ष देने का अनुरोध करें। नारद सन्देह प्रकट करते हैं, लेकिन कृष्ण के बार-बार कहने पर चल देते हैं।

कृष्ण का सन्देश सुनकर इन्द्र उनके अहंकार की भर्त्सना करते हैं। गद्य और गीत में संवाद चलता है। इन्द्र कहते हैं कि वे किसी भी हालत में पारिजात-वृक्ष देने को तैयार नहीं हैं।

जब नारद कृष्ण के पास वापस जाते हैं, तब कृष्ण पूछते हैं कि क्या हुआ ? नारद कहते हैं कि मत पूछो, मत पूछो, । इन्द्र ने तो हमारी जीभ पकड़कर खींचने की धमकी दी।

मूलगाइन संगीत में कृष्ण के क्रोध का वर्णन करते हैं और यहाँ पर मृदंग की जगह खोल का प्रयोग होता है।

कृष्ण गरुड को आज्ञा देते हैं कि सेना तैयार करो। इसके उपरान्त रंगस्थली में कृष्ण की सेना का आगमन होता है। मूलगाइन इस सेना का वर्णन करते हैं और यहाँ पर गद्य में बोलते हैं। मार्क की बात यह है कि गद्य में मूलगाइन द्वारा वर्णन कुछ वैसी ही शैली में किया जाता है, जैसे अंकिया नाटकों के सूत्रधार द्वारा।

कृष्ण की सेना मुखौटे पहने हुए जाती है। इसी तरह के मुखौटे इन्द्र तथा अन्य देवताओं के लिए असमिया के 'भाओनाघर' में मिलते हैं। दक्षिण भारत के नाट्यों में पात्रविशेष मुखौटे धारण करते हैं। उस समय सामाजिक जो गीत गाते हैं, उसकी गति त्वरित है और यहाँ 'माचिंग सांग' की-सी ध्वनि मिलती है। इस धुन की कुछ लटक वैशाली के मछुआ लोगों के गीतों में भी मिलती है।

इसके बाद रंगस्थली पर एक वृक्ष की डाली दीख पड़ती है। यह पारिजात-वृक्ष है। मुखौटा पहने एक दूत खड़ा है, जो उसकी रक्षा कर रहा है। कृष्ण की सेना उसको मार भगाती है।

दूत इन्द्र के पास जाकर शिकायत करता है। इन्द्र अब अपनी सेना लेकर निकलते हैं और साथ में शची भी हैं।

एक तरफ इन्द्र, शची और उनकी सेना तथा दूसरी ओर कृष्ण, सत्यभामा तथा उनकी सेना। मूलगाइन गद्य में बताता है कि अब सत्यभामा और शची 'कैसन जवाब देत हैं, ये जवाब सवाल सुनिया'। युद्ध होने से पहले सत्यभामा और शची का एक दूसरे को जली-कटी सुनाना नाटक का रोचक प्रसंग है। मिथिला के गाँवों में औरतों का हाथ चमका-चमकाकर लड़ने का अभिनय इस स्थल पर मिलता है।

तदुपरान्त इन्द्र और उपेन्द्र (कृष्ण) का युद्ध शुरू होता है। युद्ध के साथवाला संगीत अत्यन्त उपयुक्त है। युद्ध में भाग लेनेवाले लोग मुखौटा पहने हुए हैं।

इन्द्र का वज्र विफल होता है। इन्द्र शंकर का ध्यान करता है। शंकर भगवान् मय गणों के रंगस्थली पर जाते हैं। गण मुखौटा पहने हुए हैं। गणों का नृत्य 'शंकर भोले !'—इन शब्दों के साथ मेल खाता है।

शंकर डमरू बजाकर दोनों को आदेश देते हैं कि इन्द्र और विष्णु तो भाई-भाई हैं, झगड़ा क्यों होता है। इन्द्र कहते हैं कि विष्णु हमें भाई मानें तब तो ?

शंकर कहते हैं कि इसमें गलती तुम्हारी है, तुम क्षमा माँगो। साथ ही, शंकर रुक्मिणी और सत्यभामा को भी समझाते हैं। अन्त में इन्द्र और उपेन्द्र गले मिलते हैं और मंगलगान के रूप में मूलगाइन गाते हुए कहते हैं कि जो 'पारिजातहरण' की इस कथा को

मुनेगा, उसका जीवन सफल होगा। इसकी तुलना असम के शंकरदेव के नाटकों के अन्त के पदों से की जा सकती है। इस अन्तिम पद में गुणीजनों के प्रति भी कुछ शब्द कहे जाते हैं।

इस अभिनय की दो चार बातें विचारणीय हैं —

- (क) नाटक मंच पर नहीं, बल्कि दर्शकों के बीच एक लीलास्थली में प्रस्तुत किया गया, जिसके दोनों ओर दर्शक बैठे हुए थे। 'साजवर', यानी 'ग्रीन रूम' कुछ दूरी पर होता है।
- (ख) गीतों का साहित्य-पक्ष तो उत्कृष्ट है ही, उनके रागों में विविधता और नाटक की परिस्थिति और गति के अनुसार तालों का प्रयोग है।
- (ग) नाटक किराका लिखा हुआ है, यह ग्रामीण कलाकारों को ज्ञात नहीं; किन्तु उसके पद निश्चय ही मध्ययुगीन साहित्य की परंपरा में हैं।
- (घ) गद्य कुछ तो परम्परागत और कुछ समसामयिक होता है। परम्परागत गद्य वह है, जिसमें मूलगाइन सूत्रधार की भाँति किसी परिस्थिति-विशेष में दर्शकों को सम्बोधित करता है, जैसे कृष्ण की सेना के आगमन के समय मूलगाइन द्वारा सेना का वर्णन। दूसरी तरह के गद्य का प्रयोग उस समय होता है, जिस समय कथानक में किसी नई घटना अथवा मोड़ का संकेत करना अभीष्ट है। उदाहरणतः, जब कृष्ण नारद को इन्द्रपुरी भेजते हैं, तब 'ऐक्शन' को आगे बढ़ाने के लिए गद्य का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में गद्य कथानक की प्रगति का वाहन है।
- (ङ) युद्ध अथवा अन्य प्रकार की तीव्र भावना के उन्मेष की ओर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कभी-कभी एक साथ मृदंग पर थाप दी जाती है, जैसे नारद की बात सुनने पर इन्द्र जब आवेश में आता है, तब मृदंग की थाप सुन पड़ती है। यह तरीका लगभग सभी प्रकार के परम्पराशील नाटकों में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु खास तौर से नौटंकी में। नाटक के प्रारम्भ में प्रस्तावना, बन्दना और अन्त में मंगलगायन, इस परम्परा का सम्बन्ध पुरातन संस्कृत-नाटकों से स्थापित करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'विदापत नाच' में मिथिला के कीर्तनियाँ नाटक और असम के अंकिया नाटकों की परम्परा विकृत रूप में ही सही, विद्यमान है।

×

×

×

×

परम्पराशील रंगशाला का विस्तार हमारे देश की विशाल सीमाओं और विविध रंगतों के अनुकूल ही है और जितने प्रदर्शन मैंने देखे हैं, उनसे मुझे उसका स्पर्श-मात्र ही हमिल सका। फिर भी, यदि मैं उन सभी प्रकार के प्रदर्शनों का विवरण दूँ, जो मैं

देख सका हूँ, तो अलग ग्रन्थ की ही व्यवस्था करनी पड़ेगी। रामलीला, जाला, भवई, तमाशा, रामलीला इत्यादि सुप्रसिद्ध विधाओं के रंगमंच के दिवरण के लिए तो अलग-अलग ग्रन्थ चाहिए। अतः, यहाँ मैंने कुछ बानगी ही प्रस्तुत की है।

एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यह जरूरी नहीं कि इन रंग-प्रदर्शनों से सभी पाठकों का मनोरंजन हो सके। परम्पराशील रंगशाला शहरी जीवन के अभ्यस्त प्रेक्षक के लिए ऊब पैदा करनेवाली हो सकती है। जो इस वातावरण में रम जाने के लिए प्रस्तुत नहीं है, उसे निश्चय ही उलझन महसूस होगी। दूसरे, लगभग सभी परम्परा-शील रंग-प्रदर्शनों में एक ओर बेहद सादगी और बाल-सुलभ रूपरेखा होती है और दूसरी ओर परम्परा से प्राप्त सांकेतिकता और परिपक्वता। अबसर आधुनिक शिक्षित नगरवासी प्रेक्षक इस रंगशाला के उसी सरल और अपरिष्कृत प्रतीत होनेवाले बाह्य को देख पाता है; क्योंकि परिपक्व और सांकेतिक अभिव्यंजना को समझने के लिए जिस सहानुभूति और सहृदयता की आवश्यकता है, उसके लिए प्रयास और संस्कार अपेक्षित हैं।

परम्पराशील नाट्य-साहित्य के नमूने

परम्पराशील नाट्य-साहित्य न पूर्णतः मौखिक है और न पूर्णतः लिखित। वस्तुतः मौखिक लोक-साहित्य और लिखित साहित्य के छोरों के बीच इन नाट्यों की सामग्री कहीं सर्वांगपूर्ण पाण्डुलिपियों, कहीं रंग-संकेतों से विहीन संवाद-लिपियों, कहीं केवल गीत-संग्रहों और कहीं मौखिक रूप में बिखरी पड़ी हैं। भाषा क्षेत्रीय और आंचलिक है और कहीं-कहीं स्थानीय। अतः, इन नाटकों का साहित्यिक मूल्यांकन उस तुलनात्मक पद्धति से नहीं किया जा सकता, जो मैंने परम्पराशील रंगशाला, कथावस्तु एवं संगीत-नृत्य के विवरण में अपनाई है। अतः, यहाँ मैं कुछ नाटकों से ऐसे प्रसंगों को नमूने के तौर पर दे रहा हूँ, जिनसे पाठकों को स्वयं इनकी साहित्यिक और काव्यात्मक विशेषताओं का आभास मिल सके। अन्त में, मैंने एक ऐसी प्रदर्शन-विधा (उत्तर बिहार का 'जट-जटिन') का विवेचन किया है, जो अन्य परम्पराशील-नाट्य विधाओं की तुलना में लोक-साहित्य पर ही मूलतः आधारित है।

मेलात्तूर का भागवतमेल :

भागवतमेल का सर्वप्रिय नाटक है 'प्रह्लादचरित' अथवा 'नृसिंहावतार'। इसके दो प्रसंग (मूल और हिन्दी-अनुवाद) उसी रूप में दिये जा रहे हैं, जिसमें मैंने उनका अभिनय मेलात्तूर ग्राम में देखा था। मूल में 'वचन' को छोड़कर अन्य अंश पद्य में हैं, किन्तु हिन्दी-अनुवाद समूचा गद्य में है।

हिरण्यकशिपु, लीलावती और प्रह्लाद के प्रथम प्रवेश का दृश्य

वचनम्
अन्तट त्रिलोककण्टकुण्डैन हिरण्यकशिपु
वच्चे मार्गम्बु पराक् ॥

वचन
तव त्रिलोककण्टक हिरण्यकशिपु का
आगमन है। सावधान !

दरुवु—देवगान्धारि-आदि ।

वेडलेनम्मा हिरण्यासुरुडिदिगो वेट्क
मीरग निपुड्डु ॥ आ ॥ कडुवडिदनुजुलुजेरि
अटुकम्मु कोनि मुदमु मीरि अडुगडुगुकु
मडुगुलु परवग घरलो नमितपराक्रम विक्रमु
डनगा ॥ चा ॥ असुरमन्नु लिरुगडल हस्त-
लागीयगानु असमान चामरमु लौसुगा
वीवगानु वसुमति लोपलनु सटिन्ववगलरे
अनुचुनु इतनि दशदिसलनु चाल पोगडगनु

दरुवु—देवगान्धारि आदि
अब यही, यही, कान्ति से चमकनेवाला
हिरण्यकशिपु आ गया है। उसके आगमन
की पद्धति देखें :

बहुत-से असुरों से घिरे हुए, वह
बार-बार सोल्लास इस भाँति घोषणा
करता है—“भूमि पर मैं ही अमित पराक्रम
विक्रम हूँ।” अपने दोनों तरफ उन
असुर-मन्त्रियों से, जिनके हाथों से अनुपम
चँवर डुलाई जा रही हैं, वह यह भी पूछ

दानव धौरेयुडु तानगुचुनु वसुधातल मल्लोलरेमै
अदरग बैरुलेल्ल गुमुलुगूडि वदरग ॥

लेता है कि मेरे समान इस भूमि पर और कोई हो सकता है? दसों दिशाओं के लोगों से प्रणसित, वह घोर दानव वसुधातल को कम्पित कर सभी शत्रुजनों को भगाते हुए, आ रहा था।

वचनम्

अन्तट हिरण्यकशिपु पट्टपु राणिर्येन
लीलावती वच्चे मार्गम्बु एविधान नष्टेनु ॥

वचन

तदनन्तर हिरण्यकशिपु की पट्टमहिषी लीलावती पधारती है। उसका विधान यों है :

द्विपदा

अरितमु खमु सौर गुरुसति भारुवरुनि
अन्दमुगरु घरमुद्गरु सरसिजम्बुलनेलुचाल
नेत्रमुलु भारुनि चापम्बुलु मगुव कनुवोम्मलुतलु-
कुनीलम्बुलु तरुणि मुंगुरुलु चेलि चिलुक
पलुकुलु चिन्दुतेनेयुलु अलरुकेम्पुलु ठालु
अतिवौडुठीलु अलमले मोगलु अमरु वज्रमुलु
दाडिमवित्तुलु तगुनु दन्तमुलु पैंडिरे कुलकान्ति
वरगुचेविकवकु अंगननु दूजोगअलचद्रेखा
बंगारु कुसुममु पडति नासिकमु मेरु गेपिन
शंखम्बु मेलति गलम्बु तरुचयिन कोण्डलु
दन्तिकुम्ममुलु अपरंचि कुण्डलु अति वे स्वनु
गवयु चपलाक्षि नुगारु चीमलवारु सैकतम्बुल-
नेलु सतिजघनमु नयमोप्प रम्भलु ननबोणि
तोडलु केन्दायरल वण्टि गरित पादुमुलु
सुन्दरु ललोमेलु सुगुणालवाल पम्मिन
प्रभनोप्पु वज्जारु वोम्म वोम्मककादिदि
कलुव पूवुलवन्ति वन्तिकादिदि पंचंबाणुनि
दन्ति दन्तिकादिदि मेण्डु तलुकुलमिचु
मिचुकादिदि मुट्टुमेटि राहंस हंसकादिदि
मंचि अमृतम्नु सोन सोनकादिदि कम्मचुण्टिय
तेने तेनेकादिदि चाल तीरयिन चेलुव
चेलुवकादिदि विकसिचु चेंगलुव कलुवकादिदि
अल्ल कन्दर्पशरमु शारमुकादिदि वाणि
रसिवचु वीण वीणकादिदि सर्वविद्यल चाण

द्विपदा

देवगुरु की पत्नी के उपपति चन्द्र के समान मुखकान्तिवाली, कमलों पर शासन करनेवाले जिसके नेत्र हैं, मदनचाप जैसे ध्रुव, इन्द्रनील मणि की छवि जैसे नील अलक, शुक-शावक के समान मधुमय वाणी, चमकीले पद्मराग के समान अधर, मल्लिका-मुकुल, वज्र, और दाडिमबीज के समान चमकनेवाले दन्त, शोभायुक्त स्वर्णपत्र जैसे कपोल, चम्पा के फूल के समान नासिका, शाणोल्लीड शंख के समान ग्रीवा, निविडगिरि, जयकुम्भ तथा स्वर्णकुम्भ जैसे स्तनयुग्म, चींटियों की पंक्ति जैसी रोमावली, सैकतराशि के समान जघन, रम्भा-स्तम्भ के समान ऊरु, रक्तकमल के समान पादतल। महिलोचित उत्तम गुणों की राशि यह नारी मानों शोभायुक्त सुवर्णविम्ब है। नहीं-नहीं, सुवर्णविम्ब नहीं है। फिर क्या है? कुमुद-सुमनों की पंक्ति है। वह भी नहीं। शायद, मन्मथ की हस्तिनी हो। हस्तिनी भी नहीं। क्या उत्कृष्ट कान्तिवाली विद्युत् है? यदि विद्युत् भी नहीं, तो और क्या हो सकती है? सुन्दर राजहंस है। अरे! वह भी नहीं! अब मालूम हुआ अमृत, की धारा ही है! आखिर यह भी मिथ्या

चाणकादिदि यल्ल सम्पङ्गि रेम्म रेम्मकादिदि
चाल शृंगारकोम्म कोम्मकादिदि मुट्टु
कुलिकेदि प्रतिमे प्रतिमेकादिदि अल्ल !
पगडम्पुलतिके लतिकेकादिदि रूपलावण्य
सरमु सरमुकादिदि नवरसम्बुल सरणि
सरणिकादिदि मंचि जव्वाजि भरणि
भरणिकादिदि चालभागयिन तरुणि तरुणि
लीलावती दनरगवे डलेन ॥

उपमा ठहरी। वस्तुतः, यह तो मधु है।
नहीं, नहीं, यह मधु भी नहीं, सौन्दर्य-
समुच्चय होगा। वह भी नहीं। मानों
वह लोकप्रसिद्ध मन्मथ बाण है। क्या
वह बाण हो सकती है? नहीं, नहीं, फिर
क्या है? वह तो सरस्वती की वीणा है।
वह भी नहीं। सभी विद्याओं की कसौटी है।
अरे! रे! कसौटी नहीं। अब जान
पड़ा कि वह तो सम्पङ्गि-लता है।
वाह! वह भी नहीं। शृंगार-रसमयी
रमणी है। नहीं, नहीं। इगमें सन्देह नहीं
हो सकता कि यह तो लावण्यवती प्रतिमा
ही है। वह भी नहीं, तो प्रवाल की लता
है क्या? वह भी नहीं। रूप-लावण्य का
तडाग है। नहीं, नहीं, शायद नवरसों की
सरणि होगी। वह भी नहीं। सुगन्ध-
द्रव्यों का भाण्डार-जैसी लगती है। सत्य तो
यह है कि यह सुन्दर तरुणी लीलावती है,
जो अपने पति की ओर बढ़ रही है।

वचनम्

अवुरा ईविधम्बुन अद्दम्पु नेगडु
निद्दुम्पु मुद्दुचेक्किक्कु दिक्कु विदिक्कुल
तलुक्कु तलुकंचु पिक्कटिल्ल सक्कनि
लीलावतिरमणि तन मगनि कडकु वच्चे
मार्गम्पु पराक ॥

वचन

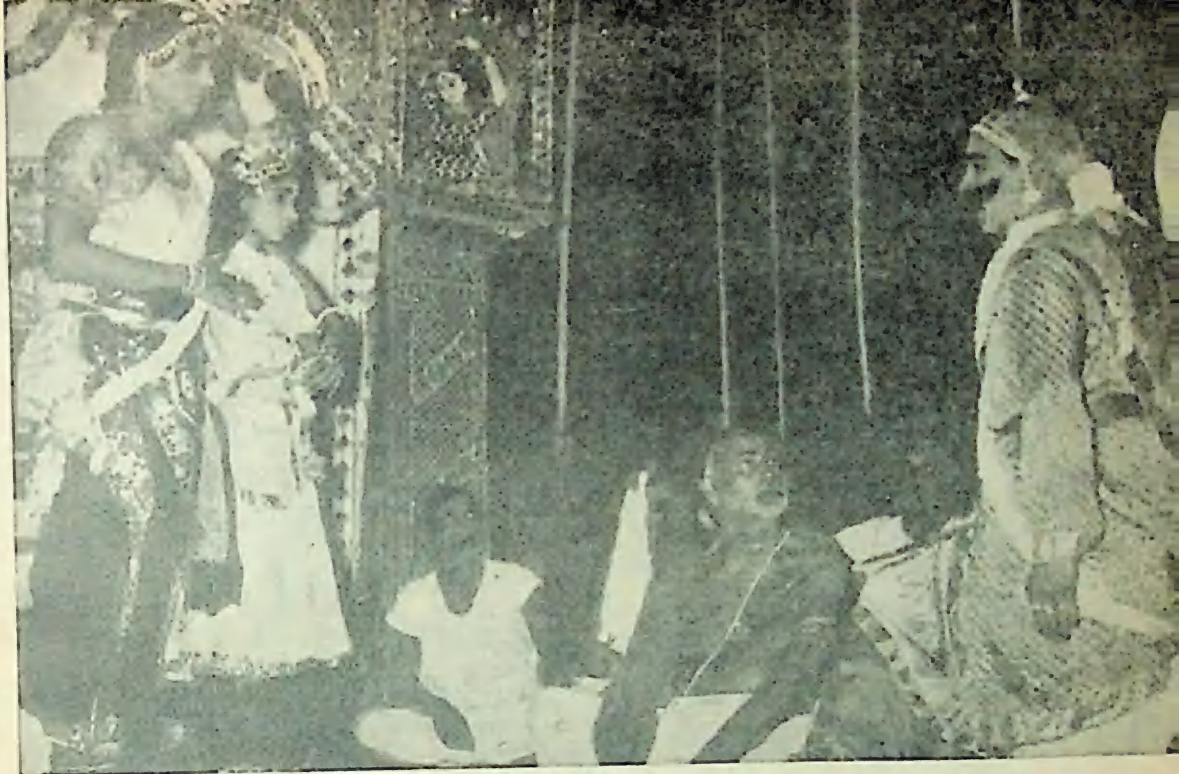
वाह! मुकुर की तरह स्वच्छ
कपोलवाली, चारों तरफ छाई हुई कान्ति
से चमकनेवाली, लीलावती अपने पति के
समीप आ रही है। आगमन का ढंग
देखिए :

अठाणा आदि

वच्चे निदिगो लीलावती रमणी
अलिनील वेणी ॥ अ ॥ भुत्सटगा दनुज
चेलुलु कोलुवग मुदमु मीर दनुजन्दुनि
वद्विकि ॥ च ॥ चिगिलि नुदुट तिलक
युकलुकुग चेलुवु देरम् गुरल दुस्जारग
मकरंगुनि चिलुकवले मुद्दु गारक
मगनिपैनि कडुमोहम् मीरग ॥

अठाणा आदि

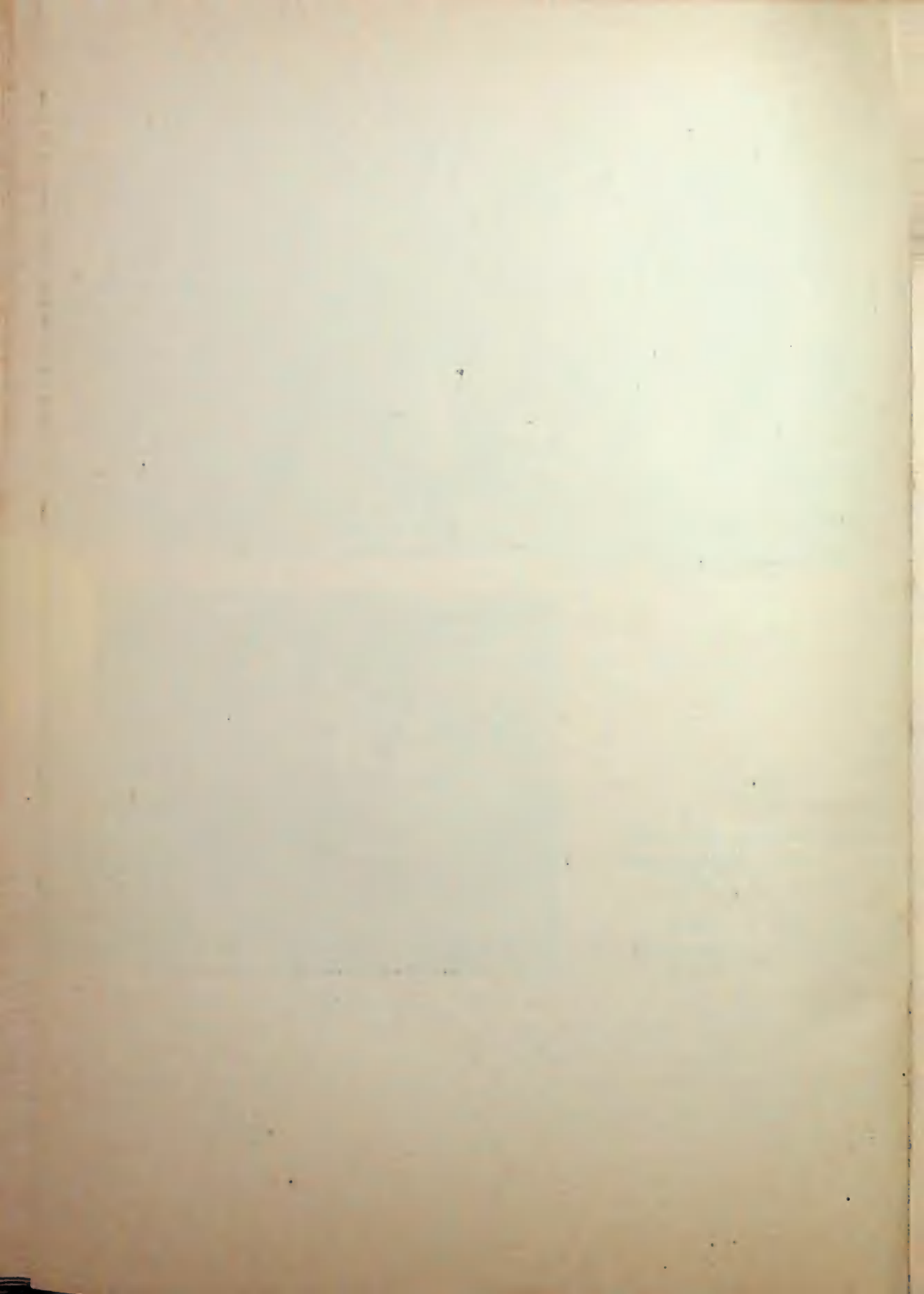
अमुर-बालिकाओं से घिरी हुई,
भौरों के तुल्य काले केशवाली लीलावती
अपने पति दनुजेन्द्र के पास बड़े व्यामोह
और हर्ष के साथ आ गई है। ललाट में
तिलक, माथे पर हिलनेवाली अलक से
अलंकृत, वह सुन्दरी मदन के शुक के समान
आकर्षक है।



ऊपर : तामिलनाडु का भागवत
मेल—हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद
(लीलावती)

नीचे : असम के अक्रिया नाट
का एक युद्ध-दृश्य (रुक्मिणीहरण)





वचनम्

अवुरा ईविधम्बुन हिरण्यकशिपु
तनयुण्डैन प्रह्लादुडु वच्चे मार्गम्बु एविधा
नष्टेनु ॥

द्विपद

आगमनिखिलवेदान्त वेद्युण्डु भागवतुल्लोचन
परमपूज्युण्डु सकलविवेकुण्डु साधु सज्जननुडु
अकलंकचित्तुण्डु निखिल सेवकुण्डु परमवैष्णव
भक्तिपरिपूर्णु डितडु सरस सज्जनलकु
साधुवैनाडु नयगुणशीलुण्डु नामतत्परुडु
मयिमरचि निद्रलो स्मरणले जेसु सौन्दर्य-
गालुण्डु जगदेकहितुडु इन्दिरा रमणुनि
यलमि नेल्लपुडु भजियिम्पुनुचु चालभक्तितो
मिगुल आजगमुलु कोनियाडु दृढचित्तुडुनुचु
परमुन मदिनेचि परमपावनुडु परिवडिचु
नुदेंच प्रह्लादु डिपुडु ॥

वचनम्

अन्तट हरिभक्ति शिरोमणियैन
प्रह्लादुडु वच्चेमार्गम्बु पराक् ॥

दरुवु-भैरवि-आदि

प्रह्लादुडु चनुदेंच निदिगो भक्ति-
मीरगानु । आहादकरमुन तन सखु लेन्दरिकि
परमुन देलुपुनु वाह लालितमुग भावतुललो
परमपूज्युडनि जनुलु पोगडग । निनिधनि
निधध पमनिध पमगरिगम पधम पमगरिगम
पमपा ॥२॥

पमगरिगम पधधनि सग रिसनिध
निपधनि सनिधपम धपम गरिगम पधा ॥

अडुगडुकु कुतन मयि मरचि यपुडु
हरिहरि हरियनि पलुकुत्ता ॥२॥

वचन

अहो ! विस्मय !! हिरण्यकशिपु
के पुत्र प्रह्लाद की प्रवेश-पद्धति का वर्णन
यों है—

द्विपद

निखिलागमवेदान्तविद्, भागवतों से
परमपूजित, बुद्धिमान्, साधु, सज्जन,
अकलंकहृदय, समाजसेवक, परम वैष्णव,
भक्तिपरिपूर्ण, शरणागतों का रक्षक, भगवान्
का पूजन करनेवाला, शरीर को भूलकर
नाद में भी भगवान् का स्मरण करनेवाला,
देखने में सौन्दर्य का मूर्तिमान् स्वरूप, भक्ति के
कारण सारे संसार के लोगों से वन्ध्य,
दृढचित्त, अन्तस्तल में परमात्मा का मनन
करने से अत्यन्त परिशुद्ध, प्रह्लाद द्रुतगति
से आ रहा है ।

वचन

हरिभक्त-शिरोमणि प्रह्लाद आ
रहा है । सावधान ! उसके प्रवेश की रीति
यों है :

दरुवु-भैरवि-आदि ।

अत्यन्त भक्ति और आनन्द के साथ
अपने वन्धुओं को परमात्मा का परिचय कराते
हुए, वह जिसे सब 'भागवतों से परमपूजित'
कहते हैं, बार-बार शरीर को भूलकर तन्मयता
से 'हरि-हरि-हरि' बोलनेवाला, 'भूमि पर
सब हरिमय है, हरिनाम ही तारक मन्त्र है,
ऐसा भली भाँति समझनेवाला, बड़े लोगों की
प्रशंसा पाते समय 'दासोऽहं' (आपका दास हूँ)
कहते हुए बार-बार नमन करनेवाला, प्रह्लाद
पिता के पास आ गया ।

हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के अन्तिम संवाद का अंश

हिरण्य-प्रह्लाद-संवादम्—सीसम्

हि०—मिरा बालका यन्दुकुन्
जडियवु नामाट मीरेदि न्यायमटरा।

प्र०—पालकडलिलोन पवलिचि युन्नट्टि
जगदीशुडुण्डगा जडियनेला।

हि०—राक्षसकुलमल्ल रक्षिन्तु वनि-
युष्टि इट्ठी दुयनुचु ने नेरुगलरा।

प्र०—अखिलाण्ड कोटिनाय कुंडैन
मुरहरि चेरि नीकुलमु रक्षिम्पगलडु।

हि०—गरुड किन्नरयक्ष गन्धर्वलिटु-
वच्चि पेप्पुतो निनु विटुविम्पगलरा।

प्र०—कडिमि वेल्पुलकेल्ल धनुडैन
वेन्नण्डु पेम्पुतो न ननु विटुविम्पगलडु।

हि०—मुल्लोक मुलवार मुन्दुनिल्वग
लेरु येन्दु वोदुवु नीकु यवरुदिकु।

प्र०—मुल्लोकमुलकादिमूलमै वेलशिल्लु
दन्तीन्द्रवरुडुड तनकुदिकु।

हि०—(गी) लेडि वेव्वुलितो
नेदुरिचिनदलु नीवु प्रतिभाटलाड वच्चे
वदेरा।

प्र०—आव चिन्नदैतेनु कारम्बु पोना
इकनु तारु माराडिते विननु पोरा।

दरुवु-पन्तुवराली-आदि

हि०—एरा औरि बालका यन्दुकुन्
जडियवु मेरगादु नामाटलु मीरुटनीकु ॥१॥

हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-संवादम्—सीसम्

हि०—रे बालक! क्यों व्यर्थ
अपने को गँवाते हो? मेरी बात की
उपेक्षा करना उचित है क्या?

प्र०—क्षीर-वारिधि पर शयन
करनेवाले जगदीश की कृपा से मेरा कभी
कुछ भी नहीं बिगड़ता।

हि०—मैंने समझा कि तुम राक्षस-
कुल की रक्षा करोगे। किन्तु मैं नहीं जानता
था कि तुम इस तरह बेकार सिद्ध होगे।

प्र०—अखिलाण्डकोटिनायक, श्री
मुरहरिजी तुम्हारे कुल की रक्षा करेंगे।

हि०—गरुड—किन्नर—यक्ष—गन्धर्व
आदि देव यहाँ आकर क्या तुम्हें छुड़ायेंगे?

प्र०—शूरवीर, देवों के भी देव,
विष्णु गौरव-सहित यहाँ आकर जरूर
छुड़ायेंगे।

हि०—तीनों लोकों में रहनेवाले
सभी लोग मेरे सामने टिक नहीं सकते।
तुम कहाँ जाओगे? कौन तुम्हारी रक्षा
करेगा?

प्र०—तीनों लोकों के आदि पुरुष,
दन्तीन्द्र वरदायक मेरी रक्षा करेंगे।

हि०—मेरे साथ तुम्हारा यह तर्क,
बाध के साथ हरिणी की बातचीत के समान है।

प्र०—राई, आकार में बहुत छोटी है,
तो भी अपने स्वभाव को दिखाती ही
रहती है। छोड़ती नहीं।

दरुवु-पन्तुवराली-आदि।

हि०—रे बालक! तू इस तरह
क्यों अपना जीवन बेकार करता है। मेरी
बात की उपेक्षा करना उचित है क्या?

प्र०—क्षीरवारिधिलोन जेपुनि पर्वलिचु
सारसनाभु डुण्डंग सडियनेटिके ॥२॥

हि०—दानवकुलमुनेल्ल पुनि रक्षिन्तु
वनुचु नेनिचि युण्टि निटुल नेरुग नैतिरा ॥३॥

प्र०—मानितगुण शीलुडैन भक्तपा-
वनुडु श्री नाथुडु कुल मेल्ल चेलग जेशुरा ॥४॥

हि०—तडयक सिद्धसाध्य गन्धर्वयक्ष
दिविजुलु वडियकुमनुचु निन्नु
विडिपिम्पगलरा ॥५॥

प्र०—कडिमी देवतुलकेल्ल कान्तुडैन मुर-
हरिनुडियमनुचुजन्नु विडिविम्पगलडु ॥६॥

हि०—ब्रह्मादि सुरुलना वलिमि किम्पवे-
रतुरु इम्महि नेन्दु पोदुवु यन्वरुदिकु ॥७॥

प्र०—ब्रह्मादि सुरुललेल्ल पालिचु
दयापरुडु कम्मविल्लु जनकुडौ श्री कान्तुड
दिकु ॥८॥

इन अवतरणों में गीत, नृत्य और वार्त्ता की उसी सम्मिश्रित शैली का विधान लक्षित होता है, जो पूर्व-मध्ययुग में उत्तर और दक्षिण दोनों के ही विभिन्न अंचलों में वैष्णव सन्तों द्वारा प्रचलित की गई।

उत्तरप्रदेश की नौटंकी

जैसा अन्यत्र बताया जा चुका है, नौटंकी एक नाटक-विशेष का नाम है, जिसकी शैली सांगीत की है। इसकी लोकप्रियता के कारण सांगीत शैली का ही दूसरा नाम 'नौटंकी' प्रचलित हो गया। नौटंकी की कथा मैंने अन्यत्र दे दी है। निम्नलिखित प्रसंग पण्डित नत्थाराम शर्मा गौड़ (हाथरस) द्वारा प्रस्तुत 'संगीत नौटंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत' से उद्धृत है और खड़ी बोली के लोकप्रतीय काव्य का आकर्षक उदाहरण है। इसमें कुछ गीत उस्ताद इन्दरमन के बनाये हुए हैं। इनका काव्य-प्रवाह और संवाद की सड़ी दोनों ही निराली प्रतिभा के द्योतक हैं।

दो०—विविध भाँति के गुल खिले, भँवर रहे गुंजार।

मानों मास बसन्त ने, कियौ शुभग शृंगार॥

प्र०—क्षीर-वारिधि में पन्नगशयन,
भगवान्, विष्णु मेरी रक्षा के लिए तैयार हैं,
इसीलिए मेरा कोई भी कुछ बिगाड़
नहीं सकता।

हि०—मैंने समझा कि तुम दानव-
कुलों की रक्षा करोगे। मैं नहीं जानता
था कि इस तरह तुम्हारी जिन्दगी बेकार
होगी।

प्र०—सुगुण—शील—भवत—पालक,
श्रीनाथजी तुम्हारे कुल की रक्षा करेंगे।

हि०—क्या सिद्ध-साध्य-गन्धर्व-यक्ष
आदि देवता पौरुष के साथ कष्टों से तुझे
छुड़ायेंगे ?

प्र०—देवता सार्वभौम मुरहरिजी
सूचना के बिना ही मुझे जरूर छुड़ायेंगे।

हि०—मेरे भुजबल से ब्रह्मादि देव
भी डरते हैं। इस भूमि पर तुम कहाँ
जाओगे ? आश्रय कौन देगा ?

प्र०—ब्रह्मादि देवों का भी रक्षक,
मन्मथजनक, श्रीकान्त ही मेरा आश्रय है।

ग०—अद्भुत शुभग शृंगार बनाया बसन्त ने । जलवा ये अपना आइ दिखाया बसन्त ने ॥
 नरगिस की लो सञ्जी से जमीं ऐसे छा रही । मखमल का फर्श गोया बिछाया बसन्त ने ॥
 बेला जुही चमेली का पहना मनो गहना । हीरे की दमक को भी लजाया बसन्त ने ॥
 ये गुल गुलाब मुनियाँ गुल तुरे फया यों । माणिक मणी चुन्नी को हराया बसन्त ने ॥
 चम्पा कनेर गेंदा सूरजमुखी खिला । पुखराज गो मेदक को भगाया बसन्त ने ॥
 ये मोतिया निवाड़ा गुलशब्बो केवड़ा । शुभ केतकी का गहना सजाया बसन्त ने ॥
 बन ठन के बँठा बगीचे छाई यों बहाली । निज हुस्न से कमर को छिपाया बसन्त ने ॥
 कोकिला चातक बोलते भोंरा की यों गुंजार । मानों साज लेकर राग को गाया बसन्त ने ॥
 दिल को खुशी हुई है अजब चमन देखकर । तबियत मेरी को आज फँसाया बसन्त ने ॥

मालिन का

दो०—भवन मेरे के सामने, है खाली दालान ।
 टिकौ वहीं आराम से, ऐ परदेशी ज्वान ॥

चौ०—ऐ परदेशी ज्वान न मानों खौफ किसी का मन में ।
 मत पाश्री तकलीफ करौ जो हुक्म बजाऊँ छन में ॥
 शुचि गुलाब बेला के अब चुनने को तुरत सुमन में ।
 नौटंकी का हार बनावन हित जाऊँ गुलशन में ॥

दो०—बनाऊँ हार निराला । ये गुल चुन-चुन कर आला ।
 जल्द बँगले जाऊँगी

फूलसिंह का

दो०—कर तयार खाना मुझे, एक मुहर दूँ तोय ।
 गूथूँ तुझसे शुभग शुचि, जरा फूल दे मोय ॥

चौ०—जरा फूल दे मोय देखना शोभा मेरी गुथन की ।
 साँचे की सी ढली कलीघर जोड़ूँ जटित सुमन की ॥
 पहने हार नारि शहजादी छिपे कान्ति हीरन की ।
 होय चौगुनी जोति तुरत नौटंकी के जोवन की ॥

दो०—हार हिय पर साजेंगी । देख छवि रति लाजेंगी ॥
 हाल सब तुझें सुनाया ।
 इसी इल्म की खातिर मैं माली को यार बनाया ॥

मालिन का

दो०—काई बात बनावता, ऐ परदेशी ज्वान ।
 बँगले अन्दर टिकत ही, हुआ तुझे बौरान ॥

चौ०—हुआ तुझें बौरान बनै है चतुर और सुजानी ।
 नौटंकी का हार बनाना तू जानै आसानी ॥

अपने मतलब के लिये क्यों बैठो गढ़े कहानी ।
अगर बिगड़ जाय हार तोप धर उड़वा देगी रानी ॥
दो०—बैठ अपने शऊर से । बात मत कर गुरूर से ॥
क्यों अपनी-अपनी तानें ।
हार बनाने की परदेशी कहा सार तू जानें ॥

फूल सिंह का

दो०—करतब अपने पर तुझे, मालिन बड़ा गुरूर ॥
चुपकी होकर बैठ बस, क्या है तुझे शऊर ॥
चौ०—क्या है तुझे शऊर दूर से देख मेरा जौहर है ।
कर्तदार यह गुथन देख मोहित हों जिन्न बशर है ॥
गुत्ते-गुत्ते बीच जड़ दिया, क्या अमोल गोहर है ।
जिसकी आभा के प्रकाश से लज्जित शम्शकमर है ॥
दो०—अजब खुशनुमां हार है । बना क्या कर्तदार है ॥
गुलों की क्या कतार है । अजब ही मजेदार है ॥
जाइ कर उसे पिन्हुइयो ।
नौटकी मलका से जा दूना इनाम ले अइयो ॥

मालिन का

दो०—गुथन देख कर हार की, मो मन भयीं अनन्द ।
अजब अनखी कली लखि, तबियत हुई पसन्द ॥
ला०—अजब खुशनुमां हार गुथा है ज्वान इल्मियत में भरपूर ।
हार पहनते नारि के बरसै रुखसारों पर नूर ॥
होकर तन में मगन हार लेकर मनमें मुसिकात चली ।
गजगवनी सी डगर में इतउत शोका खात चली ॥
कभी ठवनि केहरि की जाती कभी हंस गति जात चली ।
ड्यौढ़िन अन्दर महल को नागिन सी लहरात चली ॥
नौटकी की नजर गुजारा पहनों हरवा मेरी हजूर ॥ हार० ॥

नौटकी का

ला० लं—बरसत नूर तेरे चेहरे परतन मन हुआ मगन तेरा ।
सत्य बतादे अरी कैसे हुआ गवन तेरा ॥
नित आती नौ बजे करे ही फेरेतू कई शब तक ।
दस बाजे हैं कौन से खसम के पास रही अब तक ॥
हरगिज छिपना नहीं छिपावेगी मानि मुझ से कब तक ॥
कत्त करादूं कहै नहीं साफ़-साफ़ मुझसे जब तक ।
खा-खा माल मस्त हुई मैं जानूं उमंगा जोवन तेरा ॥ सत्य० ॥

मालिन का

ला० लं०—ग्रीर दिना से दूनी मेहनत करी बनाया मैंने हार ।
 जुही मौगरा गुथे बेला नरगिश के गुल छबिदार ॥
 कुन्दकली की दमक निराली देखो प्यारी नजर पसार ॥
 भाव-भाव पर चमेली गुथी इस सबब हुई श्रवार ।
 दास इन्द्रमन कहैं महरखां क्या है इसमें मेरा क्रमूर ॥

नौटंकी का

ला० लं०—बाँई फड़के आँख फड़कता मालिन बाँया कर मेरा ।
 चोली तड़के हाथ हरदम जावे कुत्र पर मेरा ॥
 भरै तुरंग अंग जीवन लहराता लहर लहर मेरा ।
 मुशे ये दीखे कोई मो लायक आता बर मेरा ॥
 कर शृंगार मेरा फूलों का धन से भरूं बतन तेरा ॥

मालिन का

दो०—सूर्यमुखी के फूल का, शीश फूल शिर धाल ।
 मौलसिरी के सुमन की, मोरबन्दी भाल ॥

ला०—शुचि करनफूल पहनाये कान कदम के ।
 गुलशब्बो का गलपटिया गलमें चमके ॥
 महाराज जुही के जोशन निरघाले ।
 चम्पकली चम्पा की बाजू बेला के डाले ॥
 नरगिश की नथ में जड़ा मोतिया गुल है ।
 भलके की जगह पर नीलम कोयल गुल है ॥
 महाराज केतकी कर कंगन छबिदार ।
 छूई मुई के छन गेंदा के गजरे दीने डार ॥
 मौगरा सुमन की मोहनमाला डारी ।
 करधनी कुन्द की कटि में करै बहारी ॥
 महाराज पद्म की पायल पगन सजाय ।
 सकल सुमन के सब आभूषण दये तुरत पहनाय ॥
 सदहा गुल का गुलदस्ता कर मैं धारी ।
 फिर बनों बिदेशी को हरबा गल डारी ॥
 महाराज पान मुख दरपण कर दीनों ।
 देखो मुख शहजादी क्या शृंगार शुभग कीनों ॥

नौटंकी

दो०—दरपण जब देखा मैंने, अजब शुभग शृंगार ।
 खुशी हुई तन बदन में, अपना रूप निहार ॥

चौ०—अपना रूप निहार मैंने जब नजर हार पर कीनी ।
मणि माणिक पुखराज दमक कहीं कहीं चुन्नी की चीन्हीं ॥
गुस्सा खा तन बदन पकर बहियाँ मालिन की लीनी ।
कहाँ से लुच्ची तैने हार में जभारात गुहि दीनी ॥

कड़ा—मालिनरी तेरा गुथा नहिं हार हार किस पर गुथवाया ।
कड़ी लग रही गाँठ मरद यह हार बनाया ॥

दु०—सच बता हरामिन खसम कौनसा मालदार कर आई तू ।
कच हुआ तेरे घर इतना धन जो लाखों का जड़लाई तू ॥

दो०—यार कोई कीना तैने । जान लीनी यह मैंने ॥
मुझे यह देत दिखाई ।
इश्क चोट का मारा कोई गुलशन रखा छिपाई ॥

मालिन का

दो०—कुमर मेरे की बहू का, है पीहर गुजराज ।
सो आई गोने अभी, कहूँ धरम की बात ॥

चौ०—कहूँ धरम की बात अभी तक तुमने देखी है ना ।
उसके पीहर जभारात की कमी नहीं सुन लैना ॥
बड़ों आपकी नाम उसे बढ़िया इनाम कुछ देना ।
उसने रचि पचि जटित जवाहर हार बनायी भैना ॥

दो०—रत्न जड़ हार दिये हैं । आपकी नजर किये हैं ॥
छिपाई लाल लड़ी है ।
शाहजादी सुजान वह मेरी आई चतुर बड़ी है ॥

नौटंकी का

दो०—मुखुन तेरे मालिन मुने, नैन पड़े मेरे लाल ।
कोड़न के मारे तेरी, उड़वा दूंगी खाल ॥

दो०—मालिन समझले मन में, आया तेरा काल ॥ मालिन० ॥
झूठे सखुन जो बोले, कढ़वाय लऊँ खाल ॥ मालिन० ॥
तू मुझे समझ कर भोली, करती है जाल ॥ मालिन० ॥
किसकी भगा बहू लाई, बतला ततकाल ॥ मालिन० ॥
अब भी बता सच मालिन किसका यह माल ॥ मालिन० ॥
तोऊँ नहीं इन्दरमन कर देंगे पामाल ॥ मालिन० ॥

मालिन का

दो०—मेरी बहना कौ बड़ी, मोपर रहत प्रमोद ।
ताकौ सुत एक साल से, मैं धर लीनों गोद ॥

चौ०—मैं धर लीनों गोद कुमर मो ताकी यह नारी है ।
रानी मानों सत्य मेरी बहनीति बहू प्यारी है ॥
सुन्दर चंचल चतुर बड़ी बहू रखें होशयारी है ।
उस ने हार तुम्हारे में यह नई गुथन डारी है ॥

दो०—रतन जड़ हार दिया नहीं । आप की नजर किया है ॥
छिपाई लाल लड़ी है ।
शाहजादी मुजान बहू मेरी आई चतुर बड़ी है ॥

नौटंकी का

राग कालंगड़ा परज—मालिन बहू आपनी लाना ।

कैसी बहू चतुर है तेरी, हमको जरा दिखाना ॥ मालिन० ॥
देरी मतना करूँ चमन को कर जा जल्द पयाना ॥ मालिन० ॥
तुरत फुरत गुलशन से आना, मतना बिलम लगाना ॥ मालिन० ॥
खाल कड़ा भुस भरवा दूँ, निकलूँ तेरा बहाना ॥ मालिन० ॥

मालिन का

दो०—सुन शहजादी के बचन, उड़ गये होश हवास ।
तन में अति व्याकुल बिकल, मन में बहुत उदास ॥

झू०—मन में भई उदास यह भई कैसी ऐ करतार मोकूँ कहा बिपती दीनी ।
रोबत जार बेजार गई चमन अन्दर गिरी धरणि गशखाय भई कांति हीनी ॥
कछु देर में होश भयी लगी कहन तें मोय लोभ दे बिदेशी मोहि लीनी ।
इन्दर कहै जइयो सत्यनाश तेरी हाय संग मेरे तैने दगो कीनी ॥

फुलसिंह का

दो०—ऐ मालिन सच बता दे, ऐसी क्यों घबराय ।
कहा दुख तुझ को हुआ, गिरी धरणि गशखाय ॥

झू०—गिरी धरणि गशखाय अकुलाय कर के हुआ कहा जा रही तू रोय प्यारी ।
गोरों अंग सब पर गयी श्याम तेरा व्याकुल हुआ तन भयी क्या तोय प्यारी ॥
अमी महल से आई तू चमन अन्दर चक्कर खाय गिरी धरणि गई सोय प्यारी ।
कहें इन्द्र मैंने कहा दगा कीनी नाहक दोष आई मोय प्यारी ॥

ला०—मुरझाय धरणि पर गिरी किस सबब मालिन ।

मेरी जान बता अब अपने दिल की बात ॥
जो जामा को छोड़ धरणि उलटी पछार क्यों खात ॥
क्या दशा करी तेरे संग मैंने प्यारी ।
या से मानों तैने मन में दुख भारी ॥

अब कह दे सारा हाल तू मती छिपारी ।
क्यों हुआ नीर नैना से तेरे जारी ॥
मेरी जान आज क्यों मछली सो घबरात ।
जी जामा० ॥

मालिन का

ला०—परदेशी तँने मेरी कराई खूबारी ।
महाराज हाल क्या तुझ से कहूँ सुनाय ॥
कीनी ऐसी दशा नाव दीनी मंजदार डुबाय ॥
पंजाबी तँने मुझ को नहीं बताया ।
लाखों का धन तँ हरबा बीच छिपाया ॥
रानी को देखत गुस्सा बदन में छाया ।
मुझ से बोली यह किसने हार बनाया ॥
महाराज सखुन सुन यह मैं गई घबराय । कीनी० ॥

फूलसिंह का

लावनी—अब नौटंकी से क्या मालिन कह आई ।
तजि आज उदासी क्यों जाती घबराई ॥
जो गुजरा है अहवाल सो दे बतलाई ।
सब दास इन्द्रमन से कहि नारि सुनाई ॥
मेरी जान धीर धर करै मती अपघात ॥ जी जामा० ॥

मालिन का

लावनी—मैंने बेटा की बह तुझे बतलाई ।
ला बहुअर को उन ऐसे कही सुनाई ॥
यह सुनत बचन दिल अन्दर में घबराई ।
मेरे बहुअर कोई नाहिं जा दऊँ दिखाई ।
महाराज बतादे अब क्या कहूँ उपाय ॥ कीनी० ॥

फूलसिंह का

दो०—ऐ मालिन दिल का सकल, रंज आलम कर दूर ।
बहुअर में ऐसी बनूँ, जैसे कोई कोई हूर ॥
चौ०—जैसे कोई हूर उतर कर परिस्तान से आई ।
हुस्त दमक कटि लचक के आगे रति रम्भा शरमाई ॥
तीन तीन बल खाइ चलूँ जैसे नागिन लहराई ।
साफ़ निकल आऊँ महलन से ऐसी कहूँ सफाई ॥

दो०—ला साड़ी इक अनमोली । लसी सलमे की चोली ॥
जड़ा मोतिन का दामन । लाउ मुझको गज गामिन ॥
पहन महलों जाऊँगा ।
नौटंकी को रूप आज अपने से शरमाऊँगा ॥

मालिन का

दो०—नौटंकी से हुस्न में, तू क्या कमती ज्वान ।
बहुअर तुझ बनायदूँ, प्यारे हूर समान ॥

आल्हा—ऐसी बहुअर तोय बनाऊँ लखि कर हूर परी शरमाय ।
नौटंकी से हुस्न चौगुना प्यारे तेरा दऊँ बनाय ॥
तुरत न्हला कर मैंने कुमर के सिर में अतर दिया छिटकाय ।
पटिया दोनों पार ज्वान के दीनों मांग सिंदूर भराय ॥
बिन्दी लगा दई माथे पर नैनन काजर दियो लगाय ।
नाक में डारी नथ भलकारी अधरन लटकन शोका खाय ॥
हंसली हार हमेल गले में मोहन माला दई पहनाय ।
जुगनू बाजू छत्र पछेली जोशन कंकन शोभादार ॥
कानफूल झुमका कानन में पाँयन पायल की झनकार ॥
सारे गहने सजा अंग पर चोली बाँहन दई चढ़ाय ।
दामन पहरायो प्यारे ताऊपर सारी दई उढ़ाय ॥
मुख बीड़ा दे सजा ज्वान को तब डोला में लियो बिठाय ।
डोला संग लियो मालिन ने शीश महल में पहुँची जाय ॥

×

×

×

×

पश्चिम उत्तरप्रदेश और हरियाणा का नाट्य-साहित्य साम्प्रदायिक और धार्मिक आग्रह से दूर ही रहा, जैसा नौटंकी के उपयुक्त उद्धरण से स्पष्ट है। यह आश्चर्य की बात है पश्चिमी उत्तरप्रदेश के ही दूसरे भाग ब्रजमण्डल में रासलीला जैसे वैष्णवमतावलम्बी नाट्य का विकास तो हुआ ही, वहाँ की भाषा और भक्ति की प्रेरणा का विस्तार सुदूर पूर्व असम की घाटी तक में हुआ। १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महापुरुष शंकरदेव द्वारा रचित अंकिया नाटों में नाट्य-साहित्य की दूसरी ही शोभा प्रतिविम्बित है।

असम का अंकिया नाट :

रुक्मिणीहरण नाटक

महापुरुष शंकरदेव ने असम में अपने अंकिया नाटों के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया, वह एक मिश्रित भाषा थी, जिसमें ब्रजमण्डल, मिथिला, काशी इत्यादि क्षेत्रों के शब्दों, मुहावरों, वाक्य-विन्यास आदि का असम की स्थानीय भाषाओं में आयोजन किया गया था। आज तक वहाँ के सत्रों में इसी भाषा का प्रयोग नाटों में होता है। महापुरुष शंकरदेव के 'रुक्मिणीहरण' में मध्ययुगीन वैष्णव-साहित्य का रस प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है। निम्नलिखित उद्धरण में रुक्मिणी के दूत वेदनिधि के श्रीकृष्ण के पास पहुँचने का प्रसंग है :

सूत्र०—ताहे मुनि ए वेदनिधि विहसि बोलल।

वेदनिधि—हे स्वामि कृष्ण, तुहु जगतक परम ईश्वर। तोहाक आखिए देखलु, अतः पर हमार कमन कुशल थिक ? तुहु देवकीपुत्र, सोहि नहि, ब्रह्मा महेस सेवित, श्रीनारायण, से तुहु भूमिक भारहरण-निमित्त अवतार भेल थिक। अः तोहोक महिमा की कहव। हामु जदर्थे आवलु ता सुनह। हामार विदभं राजनन्दनि रुक्मिनि भिक्षुक मुखे तोहारि गुनरूप मुनि ए मने स्वामि भावे बरल। से कन्याक विवाह करिते, पापी सिसुपाल आवल। ताहे देखिए राजकुमारि मरैछे। अः हामु कि कहव ? एक पतिया लेखि पठावल थिक, ताहेक देखह।

सूत्र०—ओहि बुलि, रुक्मिनिक पत्र कृष्णक हाते देलह। श्रीकृष्ण सादरे धरिए, मुद मांगल। विप्रक बोल।

श्रीकृष्ण—हे गुरु। तुहु पाठ करह, हामु मुनि ए रहो।

सूत्र०—विप्र पत्र लैया पड़इते लगल, श्रीकृष्ण एकचिने मुनि ए थिक। आहे लोक, ताहे देखह सुनह, निरन्तरे हरि बोल।

वेदनिधि—(पत्रपाठ) “स्वस्ति श्री परमेश्वर, सकल सुरामुर वन्दित पादपद्म, प्रपन्न जनतारण नारायण, श्री श्रीकृष्ण चरण सरोरुहेषु रुक्मिण्याः सहस्र प्रणामलिखनम्। कार्यच शिवमिह निवेदनंच। हे स्वामि, भिक्षुक मुखे तुया गुन रूप मुनि ए, कायावातयमने तोहाक पतिभावे वरेछि। तथि पापी सिसुपाल, हामाक विवाह करिते आवलथिक, जैचे सिंहक भार्या निते शृगाल चुम्पि रहए थिक। ताहे देखि भये दण्ड जुग जाइ। जानि हामि निज दामिक सत्त्वरे नेवसिया स्वामि। जब बोल, तुहु अन्तेसपुरे रह, कुन परकारे भेंट पाज्जू, ततोचित उपाय कह। हे नाथ ता सुनह, विवाहक पूर्वं दिवसे, भवानीक मठे चलव। से समये हामाक हरि निया जाय। जेबे तुहु हेला कये नाहि नेवव, तेबे तो हात बध दिये, हामु प्राण छाड़व। पापी सिसुपालक छायाक हामु कवहु पावे नाहि परसो। ओहि जानि दीन दासिक, हे नाथ, उद्धर उद्धर। तव चरन सरोरुहे किबहु लेख्यमिति पत्रमिदम्।

निरोक्ष्य करुणं पत्रं पत्न्याः परमपुरुषः।

प्रेमाश्रुलोचनस्तस्थौ म्लाननेत्रमुखाम्बुजः॥३५॥

(परंपुरुष भगवान् रुक्मिणी के करुण पत्र को देखकर प्रेमाश्रु बहाते हुए म्लान नेत्र और म्लान मुखकमलवाले हो गये ॥३५॥)

सूत्र०—तदनन्तर, रुक्मिनिक सकारुन पत्र देखिए, कृष्णक हृदये ताप उपजल, कमल-नयनक नीर शूरये लागल। जैसन विलाप कयल, ताहे देखहु सुनह, निरन्तरे हरि बोल।

राग गौरि, रूपक ताल ।

धु०—हरि हरि किना भेलि राजकुमारि ।

कमल नयन पुरि बारि झुरावत, घनघन फोकारे मुरारि ॥

पद—करत कतनु तेरि, नारि निकाहन, मोहि विरह बहे आगी ।

तोहो जव जीवन, बाला छोड़ह, हउ तब तुया बध भागी ॥

तेरा दरसन, कैसन होइ, सुमरिते तनु मन तावे ।

मिलन अधिकहु हरिको आकुल, कृष्ण किकर रस गावे ॥३६॥

कृष्ण—हे वेदनिधि, तुहु कहिवार पात्र । जो दिवसे से प्रियाक रूप गुन सुनलु, सेहन्ते एकमिनिक, मात्र ध्यान कय हामार मन थिक । से प्राण प्रियाक, अवस्था कथा सुनिए, कैसे जीवन धरु ? अये दारुक, सत्तरे रथ आनह, कुण्डिनक चलिकहु एइ क्षणे जागु । से प्रियाक दुख सुनिए प्रान रहये नाहि ।

अथ रथमधिरुह्य केशवोऽसौ ।

सपदि सारथिनोद्धवेन युक्तः ॥

करकृतधनुरीश्वरः प्रियायाः ।

प्रेमाकुलः कुण्डिनमोजसा ययौ ॥३७॥

(तदनन्तर, शीघ्र ही सारथी और उद्धव के सहित रथ पर चढ़कर भगवान् कृष्ण प्रिया के प्रेम से आकुल हो हाथ में धनुष लेकर वेगपूर्वक कुण्डिनपुर को गये ॥३७॥)

सूत्र०—ताहे सुनि दारुके तत्काले रथ जोगावल, पेखि श्रीकृष्ण ब्राह्मणक हाते धरि उपरे तुलि, हाते सरचाप धरिकहु, उद्धव सहिते, तथि चड़ल । दारुक महावेगे रथ खेदावल । श्रीकृष्ण जैसे चलल ताहे देखहु सुनह, निरन्तरे हरि बोल ।

गीत

राग माहुर घनश्री, परिताल ।

धु०—कुण्डिनकु आवत मोहन मुरार ।

कोटि इन्दुनिन्दि बदन बिराजु, कर सारंग सर धार ॥

पद—स्याम मुरति पीत, अम्बर अम्बुद, तड़ित जड़ित जस सोहे ।

रतन मुकुट मनि, कुण्डल डोलित हासि जगत जन मोहे ॥

भुज जुग केयुर कंकन आगुलि, आगुरि रतन बिकास ।

मंजिर रंजित, चरण सरोरुह, संकर कह हरिदास ॥३८॥

सूत्र०—ओहि परिकारे, कृष्णक रथ वाउवेगे चले । तथि आलोल्ये ब्राह्मण, वेदनिधि रथ वेगे श्रुतिभंग हुआ परल, हात-पाव थिर भेल, पेट उफन्दल । नासात विश्वास नाहि निःसरे, जैसे मृतक तद्वत अचेतन भेल । ताहे पेखिए श्रीकृष्ण, हाहा बुलि सिरे जल सिंचिए, फुंकि फुंकि धातु आनल ।

कृष्ण—हे वेदनिधि स्वस्थ हव, स्वस्थ हव ।

सूत्र०—कृष्णक आश्वास सुनिए, किछु चेतन पाइ, विप्रे बोलल ।

वेदनिधि—हे बापु तुहू बा के ? हामु बा कोन ? कि निमित्त एथा आवल थिक ?

कृष्ण—(विहसि बोल) हामु द्वारकार कृष्ण, तुहू वेदनिधि, रुकमिनि पठावल, तन्निमित्त तुहू हामु कुण्डने चलयिछि ।

सूत्र०—ताहे सुनिए विप्र बाहु मेलि कृष्णक धरल ।

वेदनिधि—हाहावाप वत्तलु, हामु क्षणेके मरि जाबे, तांहाक निमिते पुनु उपजलो ।

सूत्र०—ब्राह्मण कम्पय देखि, श्रीकृष्ण आश्वासन बुलि स्वस्थ कयल ।

ततो विप्रं प्रभुः प्राह गच्छ त्वं सत्वरं गुरो ।

मदागमनमाख्याहि प्रियायाः प्रीतिवर्द्धनम् ॥३६॥

(इसके उपरान्त भगवान् ने ब्राह्मण से कहा कि ब्राह्मणदेव तुम शीघ्र ही जाओ और प्रिया की प्रीति का वर्द्धन करनेवाले मेरे आगमन की सूचना दो ॥३६॥)

सूत्र०—तदन्तर श्रीकृष्ण कुण्डन समीप पाइ विप्रक बोलल ।

कृष्ण—हे गुरु, तोहो आगु हुवा चलह । से प्राणप्रिया नैरासा देखिये प्राण छाड़व ।
हामार आगमन रुकमिनि कह गिया ।

सूत्र०—विप्र सुनिए कृष्णक आसिवादि कयकहु आगु हुवा चलल । इकथार होक ।
रुकमिनिक वृत्तान्त सुनह ।

श्लोकः

विलम्बं वीक्ष्य विप्रस्य रुक्मिणी राजनन्दिनी ।

चिन्तां दुरन्तामासाद्य हरोद सखिसन्निधौ ॥४०॥

(राजनन्दिनी रुक्मिणी ब्राह्मण के लौटने में विलम्ब देखकर गहरी चिन्ता प्राप्त करके सखी-सान्निध्य में रोने लगी ॥४०॥)

सूत्र०—तदन्तर विप्रक विलम्ब देखि रुकमिनिक मने चिन्ता मिलल ।

रुक्मिणी—(मदनमंजरिक बोल) हे सखि, हामार परम अनर्थ भेल । आजु
अधिवास कालि विवाहक दिवस । से वेदनिधि कृष्णक आनए नाहि पारि,
लज्जाये नावल । हाहा अब स्वामिक आसाछेद भेल ।

सूत्र०—ओहि बुलि कुमारी जैसे क्रन्दन कयल ताहे देखह सुनह, निरतर हरि बोल ।

गीत

राग गौरी, विसम ताल ।

ध्रु०—मायि माधव अब कयल मेरि नेरास ।

पन्थ नेहारि राजकुमारी, फोकारे घने निस्वास ॥

हामु अभागि, लागि जानहु, जीवन नाथ नावे ।

मुहछि पड़ल, चेतन हरल, रमनि संकरे गावे ॥४१॥

सूत्र०—ऐसन क्रन्दन कए वाला, गुरुछित हया परल, सखि सब देखिए, हा हा बुलि, बाहु मेलि धरिकहो प्रबोध बोलल।

मदनमंजरी—हे सखि, स्वस्थ हव, स्वस्थ हव। से श्रीकृष्ण तोहाक निमिते, जाकेरि अवश्य आवब। नाम मात्ते महा महापापिसबके संसारनिस्तर, से भक्तक बान्धव-माधव, तोहाक नाहि रक्षा करब? प्राण सखि ओहि संका छाड़ह। हामाक सपत उठह उठह।

तत उत्थाय सा बाला विनिःश्वस्य पुनः पुनः।

हरोद करुणं बाला स्मृत्वा कृष्णपदाम्बुजम् ॥४२॥

(तदनन्तर, बाला रुक्मिणी उठकर और बारम्बार दीर्घ श्वास लेकर भगवान् कृष्ण के चरणों का ध्यान करके विलाप करने लगी ॥४२॥)

सूत्र०—कुमारी चेतन लभिकहु, निस्वास फोकारि, हाते जदन चड़ाइ बैठल।

रुक्मिणी—(सखि सबक बोल) हे मदनमंजरी, हे सखि लीलावति, हामार बिहि बंक भेल। वेदनिधि गैयाकहु बाहुनि नावल, प्राण कृष्णक बात किछो नाहि पावलु, हा हा ओहि जनमे से स्वामिक चरन, दरसनदुल्लभ भेल।

सूत्र०—ओहि बुलि पुनू जैसे क्रन्दन कयल बाला, ताहे देखह सुनह, निरंतर हरि बोल।

गीत

राग गौरी जोतिमान।

ध्रु०—माधव मेरि बिछुरि अब नावल, हरि बिरहानल चेतन गरि।

नावल अबहु बाहुनि द्विजनन्दन कह कंसन सखि जीवन धरि॥

पद—ओहि सिमुपाल काल भेलि मेरि।

हेरि हरत चेतन तनु खिन॥

हामु अभागि बिहि बंकिम हमारि।

प्राण पिउ कंसन कयलि बिहिन॥

करबि कमन उपाय पुनू पाइ।

अवधि बिबाह रयनि मह थिक॥

हेरब आवरि हरिको नाहि चरना।

कह शंकर झुरे रमनि अधिक॥

रुक्मिणी के इस करुण क्रन्दन की प्रतिध्वनि एक आधुनिक ग्रामीण ब्राह्मणी नायिका के विलाप में भी मिलती है। परम्परा की अभिव्यंजना भिन्न होते हुए भी आत्मा एक ही है। इसका उदाहरण बिहार के विदेसिया नाटक में मिलता है।

बिहार का विदेसिया :

पश्चिमी बिहार का 'विदेसिया' भोजपुरी-क्षेत्र की विलक्षण अभिव्यंजना है। इसके प्रणेता एक प्रतिभाशाली ग्रामीण, श्रीभिखारी ठाकुर अर्द्धशिक्षित होते हुए भी भोजपुर-क्षेत्र की लयताल-शङ्कृत भूमि से अनुप्राणित हुए। लोक-प्रचलित गीतों को उन्होंने एक ऐसे

कथानक में गूँथा, जिसमें पश्चिमी बिहार के ग्रामीण जीवन के द्यार्थ और 'मिथदूत' से आधुनिक युग तक प्रवाहित विरहिणी नायिका और प्रेमियों के सन्देशवाहक दूतों की परम्परा का अद्भुत मिश्रण है। ठेठ देहातीपन और कहीं-कहीं अश्लीलता के साथ उत्कृष्ट मार्मिकता का संयोग है। निम्नांकित उद्धरण में विरहिणी नायिका के पास एक बटोही के आने और उसके द्वारा अपने पति के पास सन्देश भेजने का प्रसंग है। उसका पति नगर में एक बेश्या के फेर में पड़ा है। 'विदेसिया' शब्द पति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

॥ समाजी पूर्वी धुन ॥

मचिया बँठल धनी मने मन समुझे से।
भुइया लोटेला लामी केश रे विदेसिया ॥

॥ प्यारी पूर्वी धुन ॥

गवना कराई सैयां घर बँठबले से।
अपने गइले परदेश रे विदेसिया ॥
चढ़ली जवनियां बरन भइली हमरी से।
के मोर हरि हूँ कलेस रे विदेसिया ॥
केकरा से लिखि के मैं पतिया पठइबों से।
केकरा से पठवों सनेस रे विदेसिया ॥
तोहरे कारण सैयां भभुती रमइबों से।
घर विदेसिया ॥
कबल दो फिरिहें दइब निरमोहिया से।
मोरा बिरहनियां के भाग रे विदेसिया ॥
हमरो सुरत सैयां तुहुँ बिसरबल से।
रहल सबति रसपागि रे विदेसिया ॥
दिनवा बितेला सैयां बटिया जोहत तोर।
रतिया बितेला जागि जागि रे विदेसिया ॥
घरी रात गइले पहर रात गइले से।
धधके करेजवा में आगि रे विदेसिया ॥
अमवा मोजरि गइल लगले टिकोरवा से।
दिन पर दिन पियराला रे विदेसिया ॥
एक दिन बहि जइहें जुलुमी बयरिया से।
डाड़ पात जइहें भहराइ रे विदेसिया ॥
झमकि के चढ़लों में अपनी अटरिया से।
चारु ओर चितवों चहाइ रे विदेसिया ॥
कतहुं ना देखों रामा सैयां के सुरतिया से।
जियरा गइले मुरझाई रे विदेसिया ॥

॥ समाजी चौपाई ॥

तेहि अबसर एक बटोहि आये। तासो प्यारी दुःख सुनाये ॥
पति गुण कहिकर रोवन लागी। सुन बटोहि के धीरज भागी ॥

॥ प्यारी बटोही से पूर्वी धुन ॥

गोड़ तोर लागी रामा भइया बनिजरवा से।
हमरो बिनय सुनि लेहु रे बटोहिया ॥
जहुँ तुहुँ जइब रामा पुरधि बनिजिया से।
हमरो सनेस लेले जाहु रे बटोहिया ॥

॥ प्यारी ॥

कैसे में कहाँ रामा अपनो सनेसवा से।
बार-बार जिया अकुलाई रे बटोहिया ॥
ताही पीछे बारहो बियोग रे बटोहिया ॥
जेकर तिरियवा रामा बन बन बिलखे से।
सेहो कैसे करे रस भोग रे बटोहिया ॥
अगिया लगाऊँ रामा राजा की नौकरिया से।
कठिन करेज हवे तोर रे बटोहिया ॥
तोरि धनि भइली रामा बनकी कोइलिया से।
कुहुँकति फिरे चारु ओर रे बटोहिया ॥

॥ बटोही ॥

कइसन हउवे तोर वारे रे बलमुआ से,
हमरा के देहुना बताइ रे संवरिया।
तोहरे सनेसवा हो तोहरे बलमुजी से,
हमहूँ कहवि समुझाई रे संवरिया ॥

॥ प्यारी बचन बटोही से ॥

हमरा बलमु जी के बड़ी-बड़ी अंखिया से,
चोखे चोखे बाड़े नैना कोर रे बटोहिया।
ओठवा तो बाड़े जैसे कतरल पनवां से,
नकिया सुगनवां के ठोर रे बटोहिया ॥
दंतवा तो शोभे जैसे चमके बिजुलिया से,
मोछियन भंवरा गुंजारे रे बटोहिया।
मथवा में सोभे रामा टंढी काली टोपिया से,
रोरी बुना सोभेला लिलार रे बटोहिया ॥

॥ प्यारी वार्त्ता ॥

ऐ बाबा ! हम केतना ले दुख सुनाई, हमरा अन्न पानी कुछ अच्छा नइखे लागत।

॥ बटोही की वार्ता ॥

चुप रह! हमार बाबू हो! तोहरा अन्न पानी घसत होई? अच्छा हम जातानी
तोहरा पति से हम पातो जरूर लगाके भेजबि।

॥ समाजी धुन पूर्वी ॥

अतना कहि के रामा चलेला बटोहिया से,
पहुँचेला पुरुब के देश रे बटोहिया।
गलिया कि गलिया रे फिरे बनिजरवा से,
कतहू ना पावेला उदेस रे बटोहिया।

॥ समाजी चौपाई ॥

गाँव का पच्छिम एक ऊँची अटारी।
मोतिअन सो जरल केवारी ॥
मचिया बँठल एक पतरी नारी।
तो संग में खेले जुग्रासारी ॥
मनहीं मन बटोही पहिचाने।
प्यारी के दुख कही बखाने ॥

॥ बटोही का बिदेसी से धुन पूर्वी ॥

पच्छिम के हई हम बारे रे बटोहिया से,
पुरुब करीले रोजगार रे बिदेसिया।
आवत रहई बबुआ पतरी डगरिया से,
खिरिकिया पर तो धनिया ठाढ़ रे बिदेसिया।
तोर धनि बाड़ी रामा अँगवा के पतरी से,
लचकेली छतिया के भार रे बिदेसिया।
केशिया त बाड़ी जँसे काली रे नगिनिया से,
सेनुरा से भरल बा लिलार रे बिदेसिया।
अँखिया त हउवे जँसे अमवा के फँकिया से,
गलवा सो ला गुलनार रे बिदेसिया।
बोलिया त बाटे जँसे कुहुके कोइलिया से,
सुनि हिया फाटेला हमार रे बिदेसिया।
मुहवाँ त हउवे जँसे कमल के फुलवा से,
तोहि बिनु गइले कुम्हिलाई रे बिदेसिया।
अइसन तिरियवा के सुधि बिसरवल से,
तोहरा के हवे धिरिकार रे बिदेसिया।

॥ समाजी बचन धुन पूर्वी ॥

एतना बचन जब सुनेला बिदेसिया से,
भूमि में गिरेला मुरझाई रे बिदेसिया।

कतही फेकेला रामा कमल के फुलवा से,
कतही फेकेला जुआसार रे बिदेसिया ॥

॥ रंडी का बिदेशिया से वार्ता ॥

ऐजी रउवाँ आज इतना काहें मन थोर कइले बानी? का घर मन परल बाटे
आकी तबियत खराब बाटे ।

॥ बिदेसी सबैया ॥

हे सजनी जरा धीर धरो, हम जइबों घरे धनी रोवत होइ हैं । प्यारी के दुःख जबसे
हम आये हमरे बिना कैसे जिवत होइ हैं । दिवस न चैन रजनि में नीद । सब सुख सेज न
भावत होइ हैं । दर्शन कहे काह कहुं धनी नाना से नीर बहावत होइ हैं ।

॥ रंडी का बिदेसी से दोहा ॥

पिया पिरितिया त्यागि के, और कहीं मत जाहु ।
कहें भिखारी भीख मांगकर, हम लाइव तुम खाहु ॥
प्रातःकाल में दर्श करिके, भिक्षा मांग लगिआऊँ ।
अपने हाथ सुन्दर भोजन, नित तुझे कराऊँ ॥

॥ बटोही का बिदेसिया से वार्ता ॥

ए बबुआ इ के बोलत बाटे ।

॥ बिदेसी वार्ता ॥

ए बाबा ! इहे नु कनियाँवा ह । जवनासे इहाँ शादी भइल बाटे ।

॥ बटोही वार्ता बिदेसी से ॥

ऐ बबुआ ! तू शादी कइले बाड़ ईहाँ ? अच्छा-अच्छा बड़ा नीमन कइले बाड़ ए
हमार बाबू ।

॥ बिदेसी वार्ता बटोही से ॥

ऐ बाबा ! इहाँ बाड़ा कुल काम पथार हो गइल बाटे, देखी ना इहे एगो कोठी
बनवली हाँ । ए बाबा ए में बड़ा रुपिया लागल बाटे ।

॥ बटोही वार्ता बिदेसी से ॥

अच्छा ए हमार बाबू बड़ा नीमन काम कइले बाड़, इहे न चाही कि जाँहर
में तहाँ खूब ठाट-बाट बनाके रहे । दू तीन गो शादी करके रहे, चाहे घरके जानाना खइला
बिना मर जासु । अच्छा कुछ भइल घरे चल जा ।

॥ रंडी बिदेसी से वार्ता ॥

ए रउआँ इ के बोलत बाटे ? चलीं चलीं लइका रोअत होई ।

॥ बटोही वार्ता बिदेसिया से ॥

ए बबुआ हो, एकरा लइका बाटे ?

॥ बिदेसी बटोही से वार्ता ॥

हाँ ए बाबा, एकरा तीन ठो लइका बाटे ।

॥ बटोही बिदेसी से वार्ता ॥

हा। बबुआ एकरा देह जवाला बुझाते नइखे और तीन ठो लइका केने से भई गइल हो बबुआ! एकर और तोहर जिनगी बनल रही त एकठो सहर बसा देव, ए बबुआ! अच्छा-अच्छा घरे जा।

॥ बिदेसी बटोही से वार्ता ॥

ऐ बाबा अच्छा तनी ओकरो से राय लेलीं तनी रउआं बंठीं।

॥ रंडी बिदेसी से वार्ता ॥

अहो? हे प्राण प्यारे? नैनो के तारे कहीं जा मत बिसारे, केवल आसा है तिहारे।

परम्पराशील नाट्य-साहित्य में जहाँ नायिकाओं के काव्यशास्त्र-सम्मत रूप की झाँकी मिलती है, वहाँ व्यवहार और कथन में जनसाधारण के दैनिक जीवन की चुहल और लोच भी मिलते हैं। परम्परा और समसामयिकता का सम्मिश्रण ब्रज की रासलीला में विशेष मुखर है।

ब्रज की रासलीला :

रासलीला के वर्तमान स्वरूप में मध्ययुगीन ब्रजकाव्य और आधुनिक ब्रज-जीवन का अनायास सम्मिश्रण हुआ ही है। निम्नांकित उद्धरण में चाचा श्रीहितवृन्दावनदास के पदों के साथ-साथ ऐसे वार्तालाप को गुंथा गया है, जो ब्रज के किसी भी साधारण परिवार में सुना जा सकता है। कृष्ण को स्वप्न में अपने विवाहोत्सव की झाँकी मिली और अपनी बधू की भी। यशोदा उससे बधू के आकार-रूप का विवरण पूछती है।

स्वप्न-लीला :

चाचा श्रीहितवृन्दावन दास जी

(लाड़ सागर की श्रीकृष्ण विवाह-उत्कण्ठा बेली के आधार पर)

यशोदा—तो लाइली तोहि सुपनेमें कैसी दीखी, बड़ी कै छोटी?

कृष्ण—मैया! मैं तो मुख ही मुख देखत रह गयी बड़ी छोटी काँ तो ध्यान ही नाँय रह्यो।

यशोदा—नेक सम्हार कर लै, ध्यान में आय जाय कहूँ।

कृष्ण—(आँख बन्द कर थोड़ी देर बाद) मया! मैं कहा कहूँ तू हँसैगी।

यशोदा—कह तो सही, कहा ध्यान में आयो?

कृष्ण—मैया! वह तो कभू बड़ी बड़ी सी लगै है और कभू छोटी छोटी सी लगै है। न जानें वह बड़ी है कै छोटी है। तू नेकु ते बूझ लीजो, कहूँ बड़ी न होय, नहीं तो.....

तुक—घर को ऊँची द्वार करावै देखि देखि दुख दहिये।

मित्र मण्डली सब हँसे नित लज्जा भीजत रहिये॥

सकुचीली स्वभाव है मेरी बात परत नहिँ सहिये।

कोऊ देइ उरहनों मन काँ चैन नहीं कहूँ लहिये।

वार्त्ता—मैया, मेरी तो बड़ी ही सकुचीली स्वभाव है। नेक हू कोई ऐंड़ी बेंड़ी कहि देय तो मैं तो धरती में गड़ जाऊँ हूँ ! नेक हू नहीं सह सकूँ हूँ ।

यशोदा—अहा ! ये सब ब्रज की गोपी बड़ी झूठी हैं। तोकूँ नाहक में ढीठ लंगर ऊधमी कहाँ करेँ हैं ।

कृष्ण—मैया, वे सब झूठी हैं, मैं तो. . .

तुक—डरत रहत हूँ सबसों पाँव परि पार न बेगि उमहियै ।

वृन्दावनहित रूप लाभ लहि अभिमानिन मद डहियै ॥

वार्त्ता—मैया, मैं तो सवन ते बड़ी डर-डर क चलूँ हूँ सवन ते प्रीति भाव बनाय राखू हूँ कभू जल्दी नहीं रिसाऊँ हूँ, मोकूँ बाबा के नाम को बड़ी ध्यान रहे है, मैं तो अभिमानी घमण्डित के ही नाक कान पकरूँ हूँ । औरन के आगे बड़ी दीन, प्रिय, सरल, सुशील वन कै रडूँ हूँ । फिर मेरी व्याह क्यों नहीं होवंगे, मैया ? और मोकूँ सब अपनी अपनी बेटी क्यों नहीं व्याहेंगे ?

यशोदा—जरूर व्याहेंगे लाला, जरूर और तेरे रोम रोमकूँ व्याहेंगे ।

कृष्ण—परन्तु बड़ी नहीं होवें मैया, या बात को तोहि पूरी ध्यान देंगी परैगी । अच्छा मैया ! अब व्याह तो बरसाने में पक्की है गयी । अब तू मोहि माखन मलाई खवाय कै झट-पट बड़ी कर लै फिर बलदाऊभैया और ग्वाल-वाल सब मोते डर्यौ करेंगे । और फिर जब बड़े गोप वृषभानु राय जी के घर मेरी व्याह है जायगी तब तो सब मेरे आगे हाथ जोरि दीन वचन बोलेंगे । और मेरी जय-जयकार गायी करेंगे ।

(प्रवेश गोपीजन)

पहिली गोपी—आज मैया बेटा कहा बैठे-बैठे वतराय रहे हैं । कन्हैया अबहि वछरा चरायवे नहीं गयी ।

यशोदा—हाँ अब जाय है, बातन बातन में देर है गई ।

गोपी—कहा ऐसी बात है हम हूँ सुनें ?

यशोदा—अरी गोपियो कहा सुनोगी याकी बातन कूँ ।

कृष्ण—कह दे न मैया, व्याह की बात कर रहे हैं ।

यशोदा—अरे मेरे ढोल ! बिना बजाये आपही बजै हैं ।

गोपी—व्याह ? कौन के व्याह की बात ?

कृष्ण—मेरे और कौन की ?

सभाजी—पद सुनत यह बात हँसी ब्रजवाला ।

गोपी—ऐसी चाह व्याह की जो तौ चोरी तजि नन्दलाला ।

बात तोतली कहि मैयासों करत ही अधिक निहाला ॥

पोल काढ़ि हूँ सखा संगके चलत अनौखी चाला ।
मांगत दान बही की समझत रीति सब गोपाला ॥
बलि भैया की दोस देत मुख बोलत बचन रसाला ।
निपट गुनीले हम जानति हूँ कहा बजावत गाला ॥
बृन्दावन हित रूप रावरे जस की फेरत माला ।

दूसरी गोपी—हँसी दस पाँच गोपिका मुनिकें ।
बड़ी साधुता निकसी उरते लाल बोलिये पुनि कैं ॥
जिनके भाँड़े फोरि बगाये तिनके उर रहे धुनि कैं ।
यह चतुराई ब्रजपति नन्दन पढ़े कौन से मुनि कैं ॥
पटकत चरन किकनी नूपुर भये जो रोचक धुनि कैं ।
जननी अधिक सिहात लाल गुन हिये धरत है चुनिकैं ॥
व्याह बधायी गायी चाहत ये गरुवे गुन गुनि कैं ।
बृन्दावन हित रूप हृषीकेश खान फूल तरुनिनु कैं ॥

तीसरी गोपी—मोहन समझि की बलि जाऊँ ॥
कहत गोपी और काढ़ी बाप की तुम नाऊँ ॥
न्याय की सुनि बात कान्हर नहीं चुगली खाऊँ ।
तनक सी अति छल भव्यी तैं सब नचायी गाऊँ ॥
दूध हाँडी फोरि कैं आयी पिछोड़ें पाऊँ ।
कहा दैउ उराहनों मुख कहत हौं जु सकाऊँ ॥
यह कहत है झूठ हौं पर सदन जात डराऊँ ॥
वसति है किहि ओर मैं देख्यो न याको ठाऊँ ॥
जो बिगारे काम तासों उलटि हौं जु रिसाऊँ ।
बृन्दावन हित रूप झूठी बात कौं पछिताऊँ ॥

दूसरी गोपी—अरी वीर गुन तो इनके कारे हैं सो तो हैं ही, रंग हू तो महा कारी
हैं। रंग हू नेक चोखी गोरीसोरी हो तो कोऊ कदाचित् अपनी बेटी दैहू
दे तो परन्तु.....

पद—देहिणी को कारे कौं बेटी ।

गरें दिपति गुंजन की माला सेली काँधि लपेटी ।
ताप लच्छन चोर लला तन लाज तनक नहि भेटी ॥
मोरन के पाँखन की टोपी माथे में उरसेटी ।
पोली बांस वंसुरिया देखी कटि ऊपर छुरसेटी ॥
बृन्दावनहित रूप दान की वन में बात चपेटी ।

वार्ता—हे यशोदा जी । तुम्हारी लाला रंग करके तो कारी कलूटी, सिंगार देखी
तो जंगली गँवार गँवारियन कैसी, लक्षण देखी तो चोर बटमारन के से और
दुलहिनी मांगें है बड़े घर की बेटी ।—तन में न लत्ता, पान खाँय अलबत्ता,

ब्रज में तो कोऊ ऐसों अन्धी गोप दीखै नहीं है जो अपनी बेटी कुंआ में ढकेल देवौगौ। हाँ लंका ते भलेई कोई कारी कलूटी राक्षसी मिल जावेगी।

यशोदा—चुप रह री। तू बड़ी स्वर्ग की अप्सरा आई, इन्द्र के अखाड़े की परी, जो मेरे लाला के गिन गिन कै नाम धर रही है।

कृष्ण—अरी घरबसी! तू कौन है? कहाँ ते आई जो हमारे दारभात में मूसर चन्द बने है।

पद—घरबसी, तू को कितते आई।

बिनही कारन भवन पराये चपरी लेत लराई ॥
नाम धरत है मैया मोकों यह मनसुखा सिखाई।
कहि वेगी घर जाय आपनै याके मन की पाई ॥
चोर चुगल की यह जु मिलनियाँ कैसी बात बनाई।
काम बन्यौ बरबस बिगारि है होयें भरी खुटाई ॥
हंसिनी ठगिनी जानि परी है तैं कित मुंह जु लगाई।
बचननि और पेट कछु और खरचत है चतुराई ॥
बाबा की सौंह महा ढीठ यह करि जैहै भड़िआई।
तू रानी न प्रीत कर यासों लै है मति बौराई ॥
ताहि न घर में आवन दीजै काटे बात पराई।
बृन्दावन हित रूप नीति की बात कही सुनि माई ॥

वार्त्ता—मैया! एसी लरहाई चुगलिन कूँ तो घर में घुसन ही न देवै। ये काहू की बनती नहीं देख सकै हैं। बने कूँ बिगारनों, हरे भरे कूँ जरावनों ही इनको धन्दी है। आज ते आगे याकूँ फिर घुसन न दीजी, मैया। ये रोजीना मेरी ब्याह बिगार दियो करेंगी। बिल्ली खायगी नहीं तो लुढ़काय जरूर देगी।

गोपी—अरी सखियो! इनको ब्याह की कैसी चटपटी लग रही है! पपैया कीं सी रट लग रही है!!

पद—स्याम के चातक की सी रट है।

ब्याह काज जसुमति तुव नन्दन वचन कहत चटपट है ॥
औरनि काज बिगारें बरबस आप काज सट पट है।
कौन भली कहि है हो डोटा करि सबसों खट पट है ॥
मैयाह सां चूके न तादिन फोर्यो दधि कौ घट है।
लरकन के तन भरें चुहुँटियाँ खाट बाँधि शिर लट है ॥
लरिवै कौ सब सों भयो सन्मुख कटि कस पीरौपट है।

यशोदा—यह कहा कहै है? मेरी छोटी सी कन्हैया बड़े बड़ैन सी कैसे लड़ सकै है?

गोपी—(तुक) : अरी तनकसों दीखतु ताछिन लगै भलौ मनु भट है।

वार्ता—अजी ! यहीं आपके सामने तनक सी दीसै है, लड़वे के समय तो पूरो महावीर बन जाय है।

कृष्ण—मैया, महावीर नाम हनुमान का है सो यह देख मोकूँ बन्दर कहकै तेरे मोहड़ो पै चिड़ाय रही है। मैं बन्दर तो तू बंदरिया है !

यशोदा—खूब कही लाला, अच्छी मोहड़ीं झाड़्यो। मेरे लाला कूँ बन्दर कहै।

गोपी—कहा ये बन्दर नहीं हैं ?

तुक—दूध बही ढरकाय चपेटी मारि जात है शट है।

बृन्दावन हित रूप नामहू पायो नागर नट है॥

वार्ता—ये हमारे दूध दहिण ढरकाए देय हैं, हमारे चपेटी भार जायें हैं, बहियां मरोर जायं, गागर फोर जायं, हार तोर जायें हैं। ऐसी ऐसी कला हमकूँ दिखावें हैं तब ही तो नागर नट नाम पायो है।

कृष्ण—और सेंट-मेंट में नट की नाई मैं तुम कूँ नाच गाय कै रिझाऊँ हूँ। सो क्यों नहीं कहै है ? अपने अवगुणनने छिपाय कैसी लड़वै चली हैं। मैया ?

पद—याहि हौं जानत हौं लरिहाई।

गोपी—तो कहा तुम मेरे घर में नहीं घुसे हो ?

कृष्ण—तो मैं चोरी करिवे घुस्यो ही के अब वानर काढ़िवे घुस्यो ही ? अरी मैया ! एक दिना मैं पौरी में खेल रह्यो, याके घर में वानर घुस गये, यह सोय रही ही सो.....

तुक—मैं काड़े वानर घर में ते समझै यह न भलाई।

नीठ नीठ हौं बच्यो नाहरी ब्याई मानों धाई।

वार्ता—मैया ! बन्दर जात खेम याकूँ नाँच गयीं, सो यह जाग परी और यह मोपै ही चोर चोर कहि कै ब्याई नाहरी की नाई अरराय परी।

और मैया.....

तुक—याहि अन्न भावै तब जब पर घर में लेत लराई।

उठत खाट ते कलह मचावै निन्दा करत पराई॥

अति झगराऊ बड़ी सूमनी जो देहि मोर दिखाई।

ताहि न मिलै अन्न सन्ध्या लागि मैं जु बात पचाई॥

वार्ता—मैया ! यह बड़ी झगराऊ है, दिन भर चपर चपर करै है, और महा सूमनी है, कानी कौड़िननें हू जोरि जारि कै राखै है। और जो कोई या भगवती के मुखारविन्द के दर्शन सबेरे कर लेय है, बाकी तो वा दिना एकादशी निर्जला है जाय है, यह मैंने परचाय कै देख लई है। जा दिना में कालीदह में कूदयो हौ ना मैया, वा दिना सबेरे याही कौ मोहड़ी देख्यो हौ, यह ऐसी सुलच्छना है।

यशोदा—अरी ओ री लक्ष्मी ! तेक दिन चढ़े पै दर्शन दियो कर । कम ते कम मेरे लाला कूँ कलेऊ कर लैन दियो कर ।

कृष्ण—मैया याकूँ आवन ही मत दियो कर, सबेरी होय कै सन्ध्या, याकी मोहड़ी जैसा है वैसे ही चरण हूँ हैं । घर आँगन में न परें तोई अच्छी ।

गोपी : (तुक)—हंसि बोलो गोपी ब्रजमोहन कहाँ यह बुद्धि कमाई ।

वार्त्ता—अजी ब्रजमोहन लाल जू, इतनी झूठी बात बनायवे की बुद्धि तुम में कहाँते आई, बड़े आसमान में थगरी लगावो हो ।

(तुक) : बोलो साँची जसोमति आगे जिन खरची चतुराई ।

वार्त्ता—अपनी मैया के आगे तो साँच बोलो, इतनी चतुराई क्यों लगाय रहे ही ?

कृष्ण—(तुक) : साँची कहत हों तुम सबकी बिगरावति फिरत सगाई ।

बाबा की सों में साँची तैं खोटी बात चलाई ॥

गोपी—(तुक) : बहुत गाई कों फूलत हों कहाँ डरी सी पाई ।

चलो आप कुल रीति लला अब जैसे होय बढ़ाई ॥

वार्त्ता—अजी लालन ! जो तुम अपने गोपकुल की रीति नीति सों चलौगे तो तुम्हारी नाम निकरैगो, और तुम्हारी सगाई है जायगी, नहीं तो व्याह सगाई कोई गुड़ की डरी थोरें ही है । जो जहाँ तहाँ मिल जायगी और तुम गण्ण खाय डारौगे ।

दूसरी गोपी—दुलहिन पेड़ पै जहाँ तहाँ नहीं फल है जो झट्ट पाय जावौगे, इन गुनन्ते तो तुम स्याम सुन्दर क्वारे ही रह जावौगे ।

पद—हँसत है गोपी सन्मुख ठाढ़ी ।

महरि तनक सों ढोटा उरते गुननि कोथरी काढ़ी ॥

बिनही ताल पखावज नाचै लगन व्याह की काढ़ी ।

वृन्दावन हित रूप बिना ही प्यास प्यास है वाढ़ी ॥

रासलीला-साहित्य का यह रूप अष्टछाप के कवियों की रासलीला से बहुत बदला हुआ है । मुहावरेदार बोलचाल का गद्य ब्रजभाषा की नैसर्गिक भंगिमा का माध्यम है । ब्रज की विशाल और पुरातन परम्परा की गरिमा इस लिखित साहित्य में उतनी ही मुखर है, जितनी अंकिया नाट में अथवा मेलात्तूर के भागवतमेल में ।

लिखित साहित्य के अतिरिक्त ऐसा भी नाट्य-साहित्य है, जिसमें नामहीन प्रतिभा शायद बरसों तक गीतों को निखारती रही है, और आशुगुम्फत गद्य संवाद को भी परिस्थिति के अनुसार व्यवहार में लाती रही है ऐसे नाट्य-साहित्य के गीतों के संग्रह तो हुए हैं, किन्तु उन्हें रंग-दर्शन के सन्दर्भ में प्रस्तुत नहीं किया गया है । परम्परागत अभिनय एवं प्रदर्शन में उन गीतों की अर्थवत्ता बढ़ जाती है । उत्तर बिहार के 'जट-जटिन' के गीत ऐसे ही नाट्य-साहित्य के उद्धरण हैं ।

जट-जटिन :

उत्तर बिहार का 'जट-जटिन' वस्तुतः लोकगीत और आंचलिक नाट्य के बीच की अवस्था का नमूना है। अँगरेजी के 'फ़ोकप्ले' की संज्ञा 'जट-जटिन' को दी जा सकती है, अर्थात् यह ऐसा प्रदर्शन है, जिसमें बिना किसी विशेष तैयारी के ग्रामीण समाज अपने जीवन और अनुभूतियों के विषय में एक सामुदायिक उत्सव के रूप में रंग-प्रदर्शन प्रस्तुत करता है। इसका साहित्यिक अन्तरंग और काव्य उन नाटकों से भिन्न है, जिनका विकास संस्कृत-नाट्य के ह्रासकाल में संगीत-नृत्य और भावा-संवाद के समावेश द्वारा हुआ था। इसके काव्य में ऐसी ताजगी और अद्भुत विम्बयोजना है, जो अन्य परम्पराशील आंचलिक नाट्यों में लगभग अप्राप्य है। 'जट-जटिन' पूर्णतया स्त्री-समाज का मनोरंजन है। स्त्रियाँ ही वेश धरती हैं, गान और नृत्य करती हैं, और प्रेक्षक भी स्त्रियाँ ही होती हैं, पुरुष इस नाट्य को नहीं देख सकते। अतः, इसमें दाम्पत्य-जीवन का वह मार्मिक पक्ष उभरता है, जो न पौराणिक कथाओं में है और न परम्परागत प्रेमाख्यानों में।

कथावस्तु अत्यन्त लघु है, कारण-कार्य का क्रम और घटनाओं के चरमबिन्दु की ओर त्वरित प्रगति नहीं है। श्रीमती इन्दुवाला देवी द्वारा सम्पादित 'जट-जटिन'^१ में इस नाट्य की रूपरेखा का आभास मिलता है, यद्यपि इसके फुटकर गीत तो अन्यत्र भी संगृहीत हुए हैं। नीचे मैंने श्रीमती इन्दुवाला देवी के संग्रह और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अप्रकाशित गीतों के संग्रह का अध्ययन करने के बाद 'जट-जटिन' की नाट्य-रूपरेखा को, क्रम और कथानक का ध्यान रखते हुए निर्धारित करने का प्रयास किया है।

प्रस्तावना में गान-मण्डली के समवेत गीतों में बेटी के मायके बुलाये जाने, उसके भाई के आगमन और सावन-भादों की बढ़ती नदी में यात्रा के जोखिमों का सजीव वर्णन होता है। परम्परा के अनुसार कि 'जट-जटिन' का विशिष्ट आयोजन सावन-भादों के शुक्लपक्ष की रात्रि में होता है। मिथिला का अंचल अनेक नदियों द्वारा विभक्त है। सावन-भादों में ये नदियाँ यात्रियों के लिए भयावह बाधाएँ बन जाती हैं। न जाने कितनी नावें भँवरों में ग्रसित हो जाती हैं, सपनों और साधों को लिए अनेक भाई अपनी बहनों को घर लाने के उपक्रम में जलमग्न हो जाते हैं। पर, सावन-भादों आने पर 'जट-जटिन' का खेल तो होना ही है। उत्सव और काल दोनों मानों एक अनिवार्य चक्र के अंग हैं। उल्लास और मृत्यु के इस शाश्वत सह-अस्तित्व का सहज और अनायास संकेत ही इन प्रस्तावना-गीतों में मिलता है, और इनमें अन्तर्हित दार्शनिक तत्व यद्यपि यूनानी कोरसों के दर्शन की भाँति मुखर नहीं है, तथापि मूलतः कालदेवता का घोर गर्जन दोनों में ही एक वशीकरण मन्त्र की भाँति व्याप्त है। एक तरफ तो प्रस्तावना-गान में 'जट-जटिन' खेलने के लिए बधू की उतावली का माधुर्य दीख पड़ता है :

सावन भादव केरा रितवन ईजोरिया
सखि पिया हे, खेलै छै भूमरिया, कदम तरे।

१. देखिए जट-जटिन : इन्दुवाला देवी, कला-संस्थान, पो० मल्लडीहा (पूर्णिया)।

जब पहुँ आगे धनि खेलबँ झूमरिया
 खेलबँ झूमरिया, कदम तरे
 धनि हमरा लागि पलंगा बिछाय देहो, हमरा लागि ।
 पलंगा बिछँते पिया हे बड़ी देर लागतँ,
 सवेरी देरी लागतँ
 पिया हे सखि सब खेलवा उसारतँ, सखि सब ।

दूसरी ओर, अन्य दो प्रस्तावना-गीतों में नैहर जाते समय नाव डूबने की आशंका को स्पष्ट अभिव्यक्त किया गया है और बहन की इच्छा पूरी करनेवाले भाई की अकालमृत्यु और बहन के भी कालकवलित होने का मार्मिक उल्लेख है। बटोही के हाथ बधू अपने नैहर सन्देशा भेजती है और कहती है कि मेरा संवाद न मेरे बाबा को देना, न मेरी अम्मा को, न मेरी भौजी को :

हमरो समाव रे भैया, भैया आगू कहिहो
 सुनैत भैया घोड़िया दौड़ायेत ।

भैया के साथ नैहर की यात्रा प्रारम्भ होती है :

वारह बरिसवा हे सासु, भैया अयलँ पहुनमा हे
 डोली चढ़ी जयबँ हे नैहर ।
 सावन भादव केरा उमड़ल नदिया हे
 कौने बिधि उतरव पार ॥
 सिकिया में चिर-चिर बेड़वा बनैबँ हे
 बोहि रे चढ़ि जयबँ हे नैहर ।
 टूटि जयतअ बेड़वा छिलकि जयतह पनिया हे
 डूबि रे मरवअ भैया तोहे बहिन ।

मृत्यु की आशंका कल्पना को इतनी सजग कर देती है कि अनिष्ट का सांगो-पांग चित्र इन सहगानों में प्रत्यक्ष हो जाता है और मानों वास्तविक जीवन का अकथ्य, करुण व्यञ्जना बन जाता है ।

इन प्रस्तावना-गीतों में काल की आशंका के परिप्रेक्ष्य में उत्सव की उमंग की झाँकी के साथ नाट्य के प्रमुख पात्र-पात्रियों का उल्लेख भी हो जाता है, पति (जट), पत्नी (जटिन), माँ, बाबा, सात सखियाँ, भाई, भौजी, ननद, सास, ससुर इत्यादि ।

प्रस्तावना का दूसरा अंश है नृत्य-सहित वे संवादगीत, जिनमें स्त्रियों के दो दल खेल के लिए एक दूसरे को आमन्त्रित करते हैं। 'झूमर' और 'लांगर' नामक खेलों की नैसर्गिक भूमिका प्रस्तुत करते हैं, वृक्षों की डाल-डाल, पात-पात पर नर्तक की थिरकन और झंकार की भी उमंग खोजते हैं। इन प्रस्तावना-संवादों से यह भी स्पष्ट होता है कि 'जट-जटिन' में गाँव के तथाकथित उच्च वर्ग की कन्याएँ भी भाग लिया करती थीं ।

प्रथम दल—चलअ हे सिरमान घेटी हो-हो रे, झूमर खेलबं ना।

द्वितीय दल—कथि रे पात चढ़ि हो-हो रे, झूमर खेलबअ ना।

प्र० दल—पुरैनी रें पात चढ़ि हो-हो रे, झूमर खेलबं ना।

द्वि० दल—बोहि पुरैनी चूरिचारि हो-हो रे, बोहे झीकी मारबो ना।

प्र० दल—मारबअ त मारबअ हो-हो रे, इहे गारि किए पढ़बअ ना ?

द्वि० दल—पढ़बो त पढ़बो हो-हो रे, हमहीं सम्हारबो ना।

श्रीमान् (यानी बड़ैयत) की लड़की की ही भाँति दारोगा की लड़की से भी ऐसा ही संवाद होता है। प्रस्तावना के इस अंश में आगे प्रस्तुत किये जानेवाले नाट्य का 'मूड' बनाने के लिए कुछ और भी उपकरणों का प्रयोग होता है। इन्हें हम एक तरह का उद्दीपन मान सकते हैं। सावन-भादों की चाँदनी में यह अभिनय होता है। उस चाँदनी और रमणी के उज्ज्वल सौन्दर्य का साम्य रंगशाला की सम्मोहक पृष्ठभूमि और नाट्य रस का चंचल उद्दीपन है :

चंदा जे उगलै झलामली रे दैया ॥

उगि कयहे छपित नहिँ होवै, उगि कय।

कथिसय झँपैतै चंदवा रे दैया।

कथि यहि हम झँपैवे आठो अंग, कथि यहि—

बदरी झँपैतै चंदवा रे दैया

पटुकहि हम झँपैवे आठो अंग—

रंगशाला का दूसरा 'मूड' है विनोद और परिहास का, और प्रस्तावना में उसे जाग्रत् करनेवाला सहगान भी है :

कजरी खेले, गेलिए हे तूत के गली,

झूमका हेरैलिय अमरुद के गली।

सामु कहे मार मार, ननद करै चुगली,

सैयाँ जालिम जोर करै मारै अंगुली।

कजरी खेलै गेलिए हे तूत के गली।

इस भाँति 'जट-जटिन' की प्रस्तावना में सहगान एवं नृत्य-सहित संवाद-गीतों द्वारा (१) उत्सव के उल्लास के लिए उद्दीपन जुटाया जाता है, (२) उत्सव की लालसा और मृत्यु के भय के शाश्वत संयोग का मार्मिक उल्लेख होता है, (३) दाम्पत्य और कौटुम्बिक जीवन के प्रमुख पात्र-पात्रियों का हल्का-सा परिचय होता है, (४) उत्सव में भाग लेने के लिए सहेलियों को उलहनापूर्ण आमन्त्रण दिया जाता है। 'जट-जटिन' की प्रस्तावना में संस्कृत-नाट्य-परम्परा के पूर्वरंग की स्तुति, विषय-वस्तु-परिचय और औत्सुक्य की उद्भावना नहीं है। फिर भी, अनायास ही प्रदर्शन की भूमिका बँध जाती है, और प्रेक्षकों एवं प्रस्तुतकर्त्रियों का 'मूड' बन जाता है।

तदुपरान्त कथानक का प्रारम्भ होता है।

कथानक को अंकों अथवा सन्धियों में तो विभाजित नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह चरमबिन्दु की ओर अग्रसर होनेवाला और संघर्ष एवं घात-प्रतिघातों से संयुक्त कथानक है ही नहीं। असल में इसे प्रसंगमाला कहना अधिक उपयुक्त होगा। लिखित नाटकों में घटना-गुम्फन, अप्रत्याशित परिणति, सस्पेंस इत्यादि जो नाटकीय उपकरण होते हैं, उनके स्थान पर इन प्रसंगों के संवादों में औत्सुक्य का उत्कर्ष और भावों का चमत्कार मिलता है। 'जट-जटिन' के कथानक में निम्नलिखित प्रसंगों का क्रम मिलता है।

मँगनी-प्रसंग—जटिन को अपनी पुत्रवधू बनाने के लिए जट की माँ तरह-तरह से अनुरोध करती है, और जटिन की माँ उसकी हर दलील को पलटते हुए इनकार करती है। इसी तरह का वार्त्तालाप समधियों के बीच होता है, एक पंक्ति में इकार और दूसरी में इनकार। मैंने अन्यत्र प्रश्नोत्तरी का जिक्र किया है, जो परम्पराशील नाट्य की विशेषता है और जिसका सूत्र उपनिषदों और महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद से जोड़ा जा सकता है। किन्तु उन प्रश्नोत्तरियों में तो जिज्ञासा और समाधान का क्रम होता है; जट-जटिन में अनुरोध और अस्वीकृति का, अथवा उपालम्भ और कैफियत का। जट की माँ कहती है—मैंने तुम्हारी लड़की को पानी लाते समय देखा; उसके साथ मेरे बेटे का ब्याह होने दो। जटिन की माँ का उत्तर है कि तुम्हारे यहाँ जाने पर कलसों में पानी भरते-भरते ही मेरी बेटी मर जायगी, अपने बेटे को क्वारा ही रहने दो। फिर वह कहती है, मैंने तुम्हारी बेटी को घर लीपते देखा था, तो जवाब मिलता है कि मेरी बेटी तुम्हारे घर लीपनेवाले कपड़ों से ही लगी रहेगी। इसके बाद अनुरोध धमकी का रूप लेता है और उसका भी टका-सा जवाब मिलता है।

जट की माँ—लय जयबअ नौ सौ बरियात, जोर करबअ बियाह हे समधीन।
जटिन की माँ—फेर देबअ नौ सौ बरियात, नहिं करबअ बियाह हे समधीन।
जट की माँ—लय जायबअ मसक बाजा, जोर करबअ बियाह हे समधीन, बल करबअ बियाह।

जटिन की माँ—फेर देबअ मसक बाजा, नहिं करबअ बियाह हे समधीन।

धमकी नहीं चलती है, तो समधिन प्रलोभन दिखाती है और कहती है कि तुम्हारी लड़की के लिए साया, साड़ी, सिनूर-टिकली, हँसुली, सिकरी लाऊँगी, पर एक-एक करके इन प्रलोभन का भी प्रत्युत्तर मिलता है। इस प्रश्नोत्तरी में नाटकीयता इसलिए भी आ जाती है कि हरेक प्रश्न और उसके उत्तर के बाद नये प्रश्न के लिए उत्सुकता पैदा हो जाती है, और यद्यपि उनका रूप एक-सा लगता है, तथापि उत्तर भी विविध प्रकार के होते हैं।

विवाह-प्रसंग—नाटक में विवाहोत्सव का विशेष अभिनय, संवाद इत्यादि नहीं है। किन्तु, एक रोचक प्रसंग है मुख्य पात्र-पात्री (जट-जटिन) के विवाह की नकल—बंका-भकुली-विवाह। जट-जटिन में ऐसे लघु प्रहसन और भी हैं। यथा : 'रोहीदास

का इलाज' और 'लुखवा की मौत।' ये लघुप्रहसन मुख्य कथानक के प्रसंगों को ऐसे ही प्रतिध्वनित करते हैं, जैसे परम्पराशील नाट्य (और पारसी थियेटर के नाटकों) में विदूषक की नकलें अथवा प्रहसन । बंका-भकुली-प्रसंग में तीन दुगाने हैं। ये तीनों ही विवाहों में वरपक्ष को लक्ष्य करके गाई जानेवाली गालियों के संवाद-स्वरूप हैं। पहले में बंका का पिता पूछता है कि मैं अपने बंका का विवाह भकुली से कराने ले जा रहा हूँ। भकुली के दलवाले कहते हैं कि यदि भकुली से विवाह कराना है, तो डाली के सामान (सौगात-भेंट) का इन्तजाम करो। वह कहाँ से पाऊँगा ?—पिता पूछता है। उत्तर मिलता है—समझिन के लगवारे, यानी आशिक जो हैं, वही सौगात का इन्तजाम कर देंगे।

बंका का दल—कहाँ रे पयबै, कहाँ रे पयबै
डलवा के साजे।

मोर बंका रहत रे कुमारे ?

भकुली का दल—डोमरा भैया भाय-भतीजा
समझिन के लगवारे
वोह रे देती, वोह रे देती
डलवा के साजे।

गौना-प्रसंग—ससुराल से जटिन के लिए बुलावे पर बुलावे आते हैं, इस सहगान की टेक में नवेली जटिन को कच्चे बाँस की बाँसुरी के समान कहा गया है :

काँच ही बाँस के बँसुलिया गे मैना,
मैना, जूमि रे गेलँ बभना लियौनमा गे मैना।

उसे लेने जो यह ब्राह्मण आया है, उसके साथ वह इसलिए नहीं जाना चाहती; क्योंकि रास्ते में ब्राह्मणदेवता की पोथी ढोनी पड़ जायगी। दूसरा लेनेवाला नाई आया। उसके साथ इसलिए जाना मंजूर नहीं कि वह राह-बाट में हजामत बनाता रहेगा। तीसरा आया स्वयं श्वसुर, पर उसके साथ इसलिए नहीं जाना चाहती कि रास्ते भर धूँधट तानना पड़ेगा। तब भँसुर (जेठ) आया, तो उसे भी मना कर दिया; क्योंकि 'राहे रे बाटे खढ़वा बेरैते गे मैना।' देवर के आने पर जवाब दिया कि वह तो रास्ते भर अपने शौक में मगन अपनी बड़िया छड़ी ही चमकाता रहेगा। उसके बाद ननदोई को भी मना कर दिया :

मैना ननदोसिया के संग हम नहिं जयबै गे मैना,
मैना राहे रे बाटे कनखी चलैते गे मैना।

जटिन के इस व्यवहार की नकल में भकुली का प्रहसन-संवाद भी होता है, जिसमें भकुली को अल्पवयस्का नायिका न कहकर लालरंग का बड़ा घरेवाला घाघरा पहननेवाली कहा गया है (तोरा लाल दलेला घँघरा)। भकुली भी अपने ससुर, अपने भँसुर यहाँ तक अपने स्वामी तक के साथ जाने से इन्कार कर देती है, पर न जाने का कोई कारण नहीं बताती। किन्तु, सहसा हम सुनते हैं कि वह जाने को तैयार हो जाती है, क्योंकि :

तोरा इयारे (यार) बोलाबै अयलौ मे भकुली
तोरा लाल-दलेला घँघरा !

हम त जयबे करवअ हे इयारे तोर बोलिया
हमरा लालदलेला घँघरा ।

भकुली तो भकुली ठहरी, किन्तु जटिन नवबधू है, उसके मना करने का असली कारण था कि स्वामी बुलाने नहीं आया। पर, इस बात को सीधे व्यक्त न करके वह अपने समुराल वालों से उड़नखटोला भोजन के लिए कहती है:

कहि दिहुन समुर जनु के, भेजि देता उड़नी रे खटोलवा ।

फतेक दिन रहवै रे नँहरवा, उमरिया मोर बीतलै रे नँहरवा !

वयसवा मोर बीतलैरे नँहरवा ।

लेकिन जट के पिता, माँ, ज्येष्ठ भाई, सभी की तरफ से यही उत्तर मिलता है कि उड़नखटोला नहीं जायगा; क्योंकि इसने गर्व किया है: उमरिया बीत देहो रे नँहरवा, गरवसय रहलौ रे नँहरवा। और तब, आखिर कच्चे बाँस की बाँसुरी को बजानेवाला स्वामी स्वयं आता है, तो वह उसके साथ जाने के लिए राजी होने का कारण भी सहज ही बताती है:

सामी के संग हमहुँ जयवै मे मैना, जयवैगे मैना,

मैना राहे रे बाटे पनमा (पान) खिलैते मे मैना !

मैना राहे रे बाटे बीजिया (पंखा) डुलैते मे मैना ।

समुराल का दरवाजा आ गया। किशोरी बधू अन्दर जाने में झिझकती है, पर अपनी झिझक को व्यक्त करने के बजाय स्वसुर के भवन की ड्यौड़ी को मलिन बताती है कि ऐसी मलिन ड्यौड़ी के अन्दर मैं कदम नहीं रखूंगी, तुम मेरे दादा दरोगा का-सा दरवाजा बनवाओ।

नवदम्पति-प्रसंग—कथानक अब नया मोड़ लेता है। समुराल में नवबधू के प्रारम्भिक अनुभवों में रोमांस, अज्ञात भय, मधुर उलाहना, चांचल्य से विदा और लज्जा के प्रवेश की धूपछाँह का जो ताना-बाना होता है, उसे संकेत और यथातथ्य मिश्रित संवादों में प्रस्तुत किया गया है।

सुहागरात के बाद। जट छेड़ता है: जटिन, मैं सच्चे दिल से और प्रेम से पूछता हूँ कि झुमका कहाँ खो दिया? जटिन जवाब देती है कि सारी रात तो तेरे बिछौने में, तेरे नजदीक रही, शायद सबेरा होने पर तेरी माँ ही झुमके को चुरा कर ले गई। इसी तरह कंगन की चोरी का इलजाम बहन पर धरा जाता है:

जट—हमें तोरा पूछियौ हे मे जटिनियाँ

दिल सय मे, जटिनी परेम सय मे

झुमका कहमा हैरेलै मे ?

जटिन—सारी रात हेरे जटवा तोहरे बिछीनमा रे
जटवा तोहरे लगीचवा रे
जटवा होयतै भिनुसरवा तोहर मंया चोरंलकोरे ।

इस सांकेतिक अभिव्यक्ति के बाद संवाद सुहागरात की मधुर अनुभूति को अधिक स्पष्ट व्यवहार में प्रकट करता है। वधू कहती है सबेरा हो गया है, मुझे आंगन बुहारना है, आंचल छोड़ो, जाने दो। पति कहता है इस मनोरम रोहिणी बेला में पलंग पर से जाने न दूंगा, प्रिये। यदि माँ, बहन और गाँव के श्रीमान् लोग मुझे दोष देंगे, तो देने दो, उन्हें मैं सँभाल लूँगा, समझा लूँगा। इन संवादों में शृंगारिक आवेग की अत्यन्त संयत और मनोरम अभिव्यंजना है :

जटिन—भोर भेलैय रे जटा भिनसरवा भेलै रे
जटवा कोइलिया बोललै रे
जटवा छोड़ि देहि अँचरवा
हम त ऐंगना बोहारबँ रे।

जट—मंया बोहारतै गे जटिनियाँ, बहिनियाँ बोहारतै गे।
जटिनी आजु के रोहिनिया हम त पलंगबँ गमँबे गे।

लोक-साहित्य की एक विशेषता यह रही है कि जीवन की मधुर और मनोरम अनुभूतियों को दैनिक जीवन के साधारण अनुभवों और विषमताओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जाता है। कल्पना और मर्म का स्तर, श्रम और लौकिक व्यवहार के स्तर से भिन्न नहीं होता। इसीलिए, 'जट-जटिन' में यथार्थमूलक और रूमानी दोनों ही प्रकार के नाट्य की ध्वनि एक ही संवाद में मिल जाती है। सुहागरात के रूमानी वातावरण में झुमके के खोने और आंगन बुहारने की बात छोड़ी गई है। नववधू को अपने नये घर श्वसुरालय में लड़कपन के स्थान में लज्जाशील वधूसुलभ व्यवहार सीखना होता है। यह प्रक्रिया (एड्जस्टमेण्ट) आसान नहीं है। पति-सीख देता है—झुककर चलो, जैसे कच्ची करलिया (एक प्रकार की फसल) रहती है। वधू का उत्तर उस उच्छृंखल कैशोर्य की प्रतिध्वनि है, जो थोड़े दिनों में मूक हो जायगा और वह चांचल्य, जिसे गृहिणी कर्म का उत्तरदायित्व हमेशा के लिए दबा देगा। वधू कहती है—मैं अपने बाप की दुलारी बेटी हूँ, मैं तो तन के चलूँगी, जैसे कदली-स्तम्भ रहता है, या बाँस की कोंपल। यही नहीं, जब मैं ऐसे तनकर चलूँगी, तो द्वार पर तुम्हारे पिता और खम्हार पर तुम्हारे भैया, शर्म से मरेंगे। मैं तन के चलूँगी, जैसे गाँव का जमीन्दार चलता है, गाँव की पुलिस चलती है।

जट—लिबके चलिहँ गे जटिनियाँ लिब के चलिहँ गे।

जैसे लीबय काँच करलिया बैसे लिबिहँ गे॥

जटिन—नहिँए लिबबौ रे जटा नहिँए लिबबौ रे।

हम त बाबा के दुलारी धीया तन के चलबौ रे॥

जैसे चले गाम जिमीदरवा वैसे चलबौ रे ॥
हाथ फेक के चलबौ रे, जटा, गोड़ फेक के चलबौ रे ।
हम त बाबा के दुलारी धीया उतनि चलबौ रे ॥

जट—लिबन बनतौ गे जटिनियाँ लिबन बनतौ गे ।
जैसे लीब कौनी के सीसवा वैसे लिबबौ गे ॥

जटिन—नहिण लवबउ रे जटवा नहिण लवबउ रे ।
जैसे केरा के थमवा रहले ओइसे रहबउ रे ॥

जट—लिबके चलिहँ गे जटिनियाँ, लिबके चलिहँ गे ।
जैसे गे लबे धानक सीसवा वैसे लबिहँ गे ॥

जटिन—न लवबउ रे जटा नहिण लवबउ रे ।
जैसे बाँस के कोपरवा रहलइ वैसे रहबउ रे ॥

जट—लिबके चलिहँ गे जटिनियाँ लिबके चलिहँ गे ।
जैसे गे लबे धानक सीसवा वैसे लबिहँ गे ॥

जटिन—नहि लिबबौ रे जटा नहिण लिबबौ रे ।
बथाने जयबौ रे जटा बथाने जयबौ रे ॥
बाबा तोहर दुअरिया जटा सरम सय मरिहँ रे ।
खम्हार पर जयबौ रे जटा खम्हार पर जयबौ रे ।
भैया तोर खम्हार पर जटवा सरम सय मरिहँ रे ॥

नवदम्पति के प्रसंग में उपालम्भ और पारिवारिक तकरार की भी कमी नहीं है ।
बधू अपनी सास से साग की निकौनी के लिए खुरपी और हँसिया माँगती है, तो सास
ताना देती है कि अपने मायके से मँगा लो । जटिन नहर जाने के लिए जट से कहती है,
तो वह उत्तर देता है कि मक्का जो तैयार खड़ी है, उसे कौन काटेगा । जटिन का
उत्तर है—तुम्हारी माँ और बहन काटेगी :

भैया काटतौ रे जटवा बहनियाँ काटतौ रे
अबरी रे स भैया हम त नहरे गमबँ रे
हमरा जाय दय रे नहरवा सखिसंग झूमर खेलवँ रे
ठाढ़ी रे झंजोरिया केसबा ओरमल अयतँ रे ।

इसके बाद गहने की फ़रमायश और जट द्वारा बहानेबाजी का संवाद है । एक
अत्यन्त रोचक संवाद है सुनार और वजाज के बारे में जटिन की शिकायत का :

जट—दुलचल दिहली दुलचल
जटिन—कहाँ दुलन में दिदिया
जट—सोनरे दुकनवा दुलचन
जटिन—सोनार के पूत मोही मारलक
जट—कौने गुनहिए मारलक

जटिन—टीका छुअत मोही मारलक

जट—मारबी रे सोनरा तोरो सोनारिन के

मोरो बिहुल के मारलक

ढुलचल दिहुली ढुलचल

जटिन—कहाँ ढुलन में दिदिया

जट—बजजे दुकनवा, ढुलचल

जटिन—बजजा के पूत मोही मारलक

जट—कौन गुनहिए मारलक

जटिन—सड़िया छुअत मोही मारलक

जट—मरबी रे बजजा तोरो बजाजिन के

मोरी बिहुल के मारलक

वियोग-प्रसंग—जट-जटिन का अन्तिम प्रसंग अत्यन्त हृदयग्राही है। जट अपनी विवाहिता के लिए आभूषण खरीदने के लिए पूरब यानी कलकत्ता नौकरी करने जाना चाहता है। जटिन आभूषणों की फरमायश छोड़ देती है और कहती है मुझे हंसुली नहीं चाहिए। पूरब की हवा खराब है। तुम यहीं रहो, 'नैनो के हजूर' में रहो :

जटा—जाय देही गे जटिन देसरे विदेस, तोरा लागी लबहु जटिन नथिया सनेस।

जटिन—नथिया त हे जटा तरवा के घूर, घरही रह जटा नयने के हजूर।

जटा—जाय देहीगे जटिन देसरे विदेस, तोरा लागी लबउ जटिन टिकवा सनेस।

जटिन—टिकवा त हे जटा तरवा के घूर, घरही रह जटा नयने के हजूर।

हंसुली जे लागे जटा गरबे के फांस

नाह करही रे जटा पूरबे के आस

पूरबे के पनियां कुपनियां छे रे जटा

कुपनियां छेरे जटा, लाइग जयतौ कोढ़ के करेज

रही जाही रे जटा नैने के हजूर।

जट आखिर विदेश चला ही जाता है। जटिन उसके वियोग में रोती है :

जटवा लागि धोतिया रंगले रहलै ना

हे रंगले रहलै ना

हाय राम इहो रो धोतिया तेजि के नोकरिये गलै ना।

जटिन उसे खोजने निकलती है, तो रास्ते में सुनार उसे तरह-तरह के लालच दिखाता है। उसके उत्तर में जटिन उसको फटकारती है और अपने जट की मुकुमारता का वर्णन करती है :

सुनार—हे गे जटिनियां बाय, छोड़ जटक के आस

गरवा जोखि-जोखि हंसुली पोन्हो, चलै हमारे साथ।

जटिन—हे रे सोनरवा भाय, रे अगिया लगैवो तोरो हंसुलिया

बजरा खसंबी तोरों साथ ।
 रे मोर जटा पूरबे नोकरिया
 रहबं जटे के आस
 बारह बरस हम आंचर बान्हि रहबं,
 रहबं जटे के आस ।
 रे तोरो सय सुन्नर हमरो जटहवा
 बटिया चलैत लचि जाय
 रे तोरो सय सुन्नर हमरो बलमआ
 चान-सुरुज छपि जाय ।

जटिन झिगनापुर के घाट पर जाकर मल्लाह से प्रार्थना करती है कि मुझे घाट के पार उतार दो। उस समय का जटिन और मल्लाह का वार्तालाप भी रोचक है :

जटिन—भइया मलहवा रेउ
 उतर देही झिगनापुर के घाट ।
 थाली देबो अरेबा-खेबा
 लोटा देबो इनमि
 भइया मलहवा रे,

मल्लाह—न लेबो अरेबा-खेबा
 न लेबो इनाम
 बहिनी बटोहिनी गे
 खोज लेग दोसर घटवार

जटिन—खसी देबो अरेबा खेबा
 पाठी देबो इनाम
 भइया मलहवा रे
 उतारदेही झिगनापुर के घाट

मल्लाह—न लेबो अरेबा-खेबा
 न लेबो इनाम
 बहिनी बटोहिनी गे
 खोज ले दोसर घटवार

जटिन—जटा देबो अरेबा खेबा
 जटिन देबो इनाम
 भइया मलहवा रे
 उतार देही झिगनापुर के घाट

मल्लाह—न लेबो अरेबा-खेबा
 जटिन लेबो इनाम

बहिनी—बटोहिनी गे
उतार देवों शिंगनापुर के घाट

जट अन्ततः लौट आता है। लेकिन, कुछ दिनों बाद दोनों में झगड़ा हो जाता है और जट मूसल से जटिन को मारता है। जटिन रूठकर भाग जाती है। अब जट के विरहव्रत होने की बारी आती है।

जट—सुन मोर जोगिया, सुन मोर भाई
येही नगर में जटिन भुलाई
जटा के छाता जटिन चौराई
नौ महीना के पेट ले के आई
सिरो के टोपी से हो ले आई
हाथो के छड़िया से हो ले आई
खोज मोर जोगिया, खोज मोर भाई

ग्रामीण—यही नगर में जटिन न आई
जटा के छाता सेहत न लाई
सिरो के टोपी सेहो न लाई
हाथो के छड़िया सेहो न लाई
खोज मोर जोगिया, खोज मोर भाई

इससे भी अधिक मार्मिक है जट का यह विलाप :

जट—हाथी पर के हौदा बिकाय गेल गे जटिन तोरे बिनु
तोरे बिनु हमहुँ बेकल भँलो गे जटिन जटिन तोरे बिनु
तोरे बिनु महल उदास भेल गे जटिन तोरे बिनु
तोरे बिनु अँगना में दुभिया जनमि गेल गे जटिन तोरे बिनु
मेजिया पर मकड़ा बियाय गेलेंगे जटिन तोरे बिनु

नायिका की वियोग-परिस्थिति का वर्णन और प्रदर्शन कई परम्पराशील नाट्यों में देखा जाता है। किन्तु, जट-जटिन में नायक की वियोग-परिस्थिति का अत्यन्त अनूठा और रोचक विवरण है। यही नहीं इस परिस्थिति को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जट द्वारा जटिन की खोज में रोचक अभिनय के लिए भी मौका मिल जाता है। पति, यानी जट अपनी पत्नी को खोजने के लिए निकलता है, तो रास्ते में तरह-तरह के वेश धारण करता है। पहले दही बेचनेवाली ग्वालिन के रूप में, फिर मछलीवाली के रूप में फिर चूड़ीहारा के रूप में :

जट—(दही बेचनेवाली ग्वालिन के रूप में)
दही लो दही लो दही वाले,
मेरा मीठा दही है बाजार के

ग्रामीण स्त्रियाँ—तोर केकर आँटल दूधवा,
 तोर केकर पोरल दहिया ?
 तोहर सड़ल गन्हाय छी दहिया
 तोहर खट्टा महकै छी दहिया ।

जट (ग्वालिन)—माय ससुर के आँटल दूधवा,
 माय सासु के पोरल दहिया ।
 माय बड़ मीठ लागै दहिया,
 माय साँची दूध के दहिया ।
 अगे लेगे गहिक बेटी दहिया
 अगे लेगे गहिक बेटि दहिया ।

ग्रामीण स्त्रियाँ—अगे नहि लेबी नहि लेबी दहिया
 तोहर कोय नहि पूछै छी दहिया ।

सिपाही—हमहूँ त छि ए गुवालिन, मालिक के सिपाही हे
 माड़ि डंटा, फोड़ि कोह, खाय लेब दही दूध है ।

जट (ग्वालिन)—इहो मत जान्हि सिपाही असकर गुवालिन हेउ
 मारि कोहा तोड़व थूथना, बेचिलेव दही दूध है ।
 रात रहौं कुंजवन दिन बैचौं दही
 घेघा सिपाही के नहि दौं दही ।
 कोय लेगे गहिक बेटी-दहिया
 मोर साँची दूध के दहिया ।

सम्मिलित गायन—दही दूध बीकि गेल रे जटा, बचि गेल घोर
 आन हो पुरैनी पात रे जटा पीवी लेहो घोर ।

जट—(गोड़िन, मछलीवाली, के रूप में)
 ससुरे-भंसुरे मोरे जाल बुनै ना, जाल बुनै ना,
 असकर बलमुआ मोरा माँछ मारै ना,
 माँछ ले हे माँछ ले हे गहिक बेटी ना ।

ग्रामीण औरत—आहे कौनी मछरिया केरा गोड़िन हे

जट—आहे रेहुआ मछरिया केरा गोड़िन हे ।

ग्रामीण औरत—आहे गहुमा के कै खूटे माँछ देबय है ?

जट—आहे गहुमा के तीन खूटे माँछ देबय है ।

ग्रामीण औरत—तोर मछरी बनबै नहि जानियो
 धुए नहि जानियो,

रान्हें नहिं जानियों,
खबैया के खियाबं नहिं जानियों,
धिया पुता परबौधे नहिं जानियों,
गोढ़िया बहू गो !

जट (चूड़ीहारा के रूप में)—चूड़ी ले चूड़ी ले !

ग्रामीण औरत—कहाँ के तू लाहे-लहेरिया,
कहाँ के तोर चूड़िया ?

जाट—मुगेर के हम लाहे लहेरिया,
बनारस के मोर चूड़िया ।

ग्रामीण औरत—मुनऊ लहेरी भाय,
तोर कै टका जोड़ चूड़िया ?

जाट—मुनअ गिरथाइन दाय,
मोर पाँच टका जोड़ चूड़िया
छै बड़ा मजा के चूड़िया
मोर चमचम चमकें चूड़िया ।
तोर टन-टन जाय छौ चूड़िया
तू पीटल जयबं लहेरिया ।

इस खोज के बावजूद जब जटिन नहीं मिलती है, तब जट अत्यन्त करुण वाणी में आँगन में जमी हुई दूब, पलंग पर फैले हुए मकड़ी के जाले, रसोईघर में ठण्डे पड़े भोजन इत्यादि का उल्लेख करते हुए घर के सूतेपन को अभिव्यक्त करता है :

जट—अंगना में दूभिया जनमि गेल गो माई, जाटिन बिनु
पलंग पर मकड़ा जाल बिछाय देल गो माई जाटिन बिनु,
सेज पर मकड़ा बियाअ गेल हे जाटिन तोहरे बिनु ।
दुअरे पर गोवर सूखि गेल गो माई, जाटिन बिनु,
भनसा रसोइया ठंडाय गेलगं हे जाटिन तोहरे बिनु ।

अन्त में, जट जटिन को मना कर घर ले आता है और मंगल की भावना के साथ यह खेल समाप्त होता है :

हमरा के की हे देबअ दान रोही-मालती !
जौ तहूँ आहो भैया भंसिया बिलमंबे
छोटकी ननदिया देबो दान, रोही-मालती
छोटकी ननदिया लागे हमरो बहिनिया,
आपनो जौवनमा देहो दान रोही-मालती
हमरो जौवनमा भैया बिखिया के मातलिउ

जेहो रे छूबं मरि जाय, रोही-मालती ।
 तोहरे जीवनमा जब बिखिया के मातिल,
 तोहर बलमु कैसे छूबे रोही-मालती !
 हमरो बलमु जी बंगला के सीखवा,
 मयूर के पंख झाड़ू बीछ रोही मालती !

कर्णाटक के दोडाट्टा से लेकर बिहार के जट-जटिन तक इन उद्धरणों में परम्पराशील नाट्य-साहित्य की सहज अभिव्यंजना बिखरी मिलती है और गरिमा का आभास भी। भावोत्कर्ष के लिए जहाँ एक ओर कथा-प्रवाह का ठहराव दीख पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर कहीं-कहीं कथानक में हठात् मोड़ भी प्रेक्षक को चकित कर देते हैं। काव्य में अप्रस्तुत-विधान रूढिगत भी होते हैं और कहीं-कहीं सर्वथा नूतन और अप्रत्याशित भी। आंचलिक रंगत भाषा में ही नहीं, अभिव्यंजना-शैलियों में भी उभरती है। फिर, भी यदि हम परम्पराशील नाट्य की आंचलिक उपलब्धियों और देश की क्षेत्रीय भाषाओं के नागरिक साहित्य की विविध उपलब्धियों का मिलान करें, तो एक बात स्पष्ट हो जाती है। क्षेत्रीय भाषाओं के नागरिक साहित्य की अपेक्षा परम्पराशील नाट्य के आंचलिक साहित्य में अखिलभारतीय स्वरूप के पुट कहीं अधिक दृष्टिगत होते हैं। इसका कारण है कि यह नाट्य-साहित्य, ताल, नृत्य और गान के परिवेश में पलता है और क्षेत्रीय भाषाओं की सीमाएँ इस परिवेश को संकुचित नहीं कर पातीं।

वस्तुतः, परम्पराशील नाट्य-साहित्य को संगीत और नृत्य के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। भाषा की लयात्मकता, गीतों की नाटकीयता, संवाद के घात-प्रतिघात सभी पर संगीत की ताल और गति का प्रभाव पड़ता है। इस 'संगीतक-साहित्य' में कवि की व्यक्तिगत प्रतिभा संगीत और नृत्य की आवश्यकताओं से दिशा-संकेत पाती है और रंगशाला के सम्प्रेषण-विधान में अपनी परिणति खोजती है। साथ ही नाट्याचार्य के निर्देशन इस साहित्य को प्रदीप्त करते हैं।

उपसंहार

परम्पराशील आंचलिक नाट्य की विशाल धारा की इन दो-चार हिलोरों के स्पर्श के आधार पर हम कुछ निष्कर्षों की चर्चा करने के अधिकारी तो हो ही सके हैं, यद्यपि ये निष्कर्ष सर्वथा स्वीकार्य हों, यह जरूरी नहीं है। जैसा मैंने प्रारम्भ में निवेदन किया है, इन नाट्यविधाओं के लिए लोक-नाट्य की संज्ञा अंशतः ही समीचीन है। हमारे परम्परागत नाट्य यूरोपीय फोक-प्लेज से भिन्न है, अधिक कलात्मक हैं और साहित्यिक धरोहर के परिवेश से बाहर नहीं हैं। कुछ विद्वानों ने लोक-नाट्य शब्द के सम्पर्क में भरत-नाट्य शास्त्र के पष्ठ अध्याय के २४ वें श्लोक का हवाला दिया है :

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मोति द्विविधः स्मृतः ।

भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥

यहां भरत लोकधर्मी और नाट्यधर्मी इन दो धर्मियों का उल्लेख करते हैं और उसके बाद भारती, सात्त्वती, कैशिकी, आरभटी इन वृत्तियों की व्याख्या करते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार लोकधर्मी से भरत का संकेत ऐसे नाट्य की ओर है, जो जनसाधारण, अर्थात् लोक का मनोरंजन करे और उनके जीवन को प्रतिबिम्बित करे, तथा नाट्यधर्मी से ऐसे नाटकों का तात्पर्य है, जो शास्त्रसम्मत नाट्य-सम्बन्धी विधान के अनुकूल हों। इन विद्वानों का यह मत है कि जो वर्गीकृत नाट्य देश के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं, वे वस्तुतः इस लोकधर्मी परम्परा के अंग हैं।

मुझे यह मत भरत के नाट्य-सम्बन्धी सर्वांगीण दृष्टिकोण के विपरीत जान पड़ता है। भरत ने प्रारम्भ के ही कम-से-कम तीन श्लोकों में समूचे नाट्य को ही लोक की वृत्ति का अनुकरण बताया है :

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥

लोक के लिए उपदेश का माध्यम कहा है :

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

और लोक के सर्वकर्मों का अनुदर्शक भी बताया है :

धर्म्यमर्थं यशस्यं च सोपदेश्यं ससंग्रहम् ।

भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदेशकम् ॥

अतः, उनकी दृष्टि में जन-साधारण के जीवन से सम्बद्ध नाट्य और शास्त्रसम्मत नाट्य में कोई अन्तर था ही नहीं। तब लोकधर्मी और नाट्यधर्मी शब्दों से भरत का क्या आशय

हो सकता था? इसके लिए हमें नाट्य-रस की विशेषता पर विचार करना होगा। अन्यत्र मने नाट्य-रस के अमूर्त और आध्यात्मिक अनुभूति का सोपान होने की ओर संकेत किया है। भरत और अभिनवगुप्त नाट्य-रस को अलौकिक मानते हैं। यहाँ अलौकिक से तात्पर्य आध्यात्मिक से नहीं है, बल्कि उस अनुभूति से, जो लोक-जीवन में प्रायः उपलब्ध नहीं होती, यानी लोकातीत अनुभवों से प्राप्य रस। नाट्य की विलक्षणता यह है कि वह रंगशाला के सीमित परिवेश के आगे किसी अलौकिक शक्ति के चमत्कार से हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर क्षण-भर में पहुँचा देता है। अभिनेता जो व्यवहार करता है, वह नाटकीय व्यवहार है, वह लोक-व्यवहार नहीं है। रंगमंच पर बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ दिखाई जा सकती हैं, जो लोक-जीवन में अमान्य होती हैं। दूसरे शब्दों में जो नाट्य-धर्म है, वह जरूरी नहीं कि लोकधर्म भी हो। भरत का तात्पर्य यही था कि नाट्यधर्म में काल, स्थान, व्यवहार इत्यादि लौकिक जीवन से भिन्न होते हैं और उसे जिस रस और आनन्द की उपलब्धि होती है, वे भी लौकिक जीवन के रस और आनन्द से परे हैं।

इस विचार को प्रस्तुत करने का मेरा आशय यह है कि भरत के समय में साहित्यिक या नागरिक नाट्य और लोक या ग्रामीण नाट्य में अन्तर नहीं था। यह अन्तर उस समय आया, जब राजदरबारों के संरक्षण में ऐसे नाटकों की ही रचना होने लगी जिनका सम्बन्ध उच्च वर्ग के जीवन से था और जिनके कर्म और सौन्दर्य को समझने के लिए रसज्ञ और शास्त्रज्ञ होना जरूरी था। मेरा अनुमान है कि भरत के सर्वसंग्रही नाट्य की परम्परा को जारी रखने के लिए ही गुप्तकाल के बाद प्रयोक्ताओं और नाट्याचार्यों के प्रयासों से आंचलिक और अनौपचारिक नाट्य-शैलियों की उद्भावना होने लगी। जान पड़ता है कि भरत के बाद बहुत कम ऐसे नाट्यशास्त्रवेत्ता हुए, जो रंगप्रयोक्ता यानी प्रोड्यूसर भी रहे हों। दूसरे शब्दों में नाट्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादकों और नाट्य-लेखकों की तो एक श्रेणी हो गई और नाट्याचार्यों निदेशकों, और प्रयोक्ताओं की दूसरी। इस दूसरी श्रेणी के लोग जनसाधारण की रुचि और नाट्य की लोक-मानस के लिए सार्थकता के हामी थे। अतः, जब उन्होंने देखा कि राजकुल के मनोरंजनार्थ पण्डित और कवि नाट्य को साहित्यिक और अलंघ्य रूप ही देते जा रहे हैं, तो उन्होंने लिखित नाट्यों में लोकप्रियता और लोकहित के लिए कुछ परिवर्तन करने शुरू कर दिये। उनमें प्रमुख परिवर्तन था नृत्य और संगीत का प्रचुर मात्रा में समावेश कर संगीतक नामक नई विधा की सृष्टि करना। दूसरा तत्त्व था जनसाधारण के लिए उपयोगी नीतिशिक्षा और धर्मशिक्षा के पुट देना। ये दोनों ही परवर्ती परम्पराशील आंचलिक नाट्य की आधारशिला हो गये।

एक अन्य दृष्टि से भी आज का परंपराशील आंचलिक नाट्य भरत की मौलिक पद्धति का उत्सायक है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि देवता लोग नाट्य करने में असमर्थ हैं : अशक्या भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि। अतः, नाट्य के प्रयोग और धारण के लिए ज्ञानी ऋषियों की आवश्यकता है : य इदं वेद गुह्याङ्गं ऋषयः संशितव्रताः। देवताओं से

अलग ये ऋषि लोग कौन थे? भरत ने अपने १०० पुत्रों को यह शास्त्र सिखाया। कौन थे ये सौ पुत्र? नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग की व्याख्यावाले अंश में किन दैत्यों के समाधान के लिए ब्रह्मा ने बताया कि नाट्य दैत्यों और देवों दोनों की कलाओं और धर्म को अभिव्यक्त करेगा? और फिर, पूर्वरंग में इतने सारे विधान किन दैत्यों की तुष्टि के लिए किये गये? हमने वर्तमान परम्पराशील नाट्य के सिंहावलोकन में देखा कि लगभग इन सभी शैलियों में किसी-न-किसी प्रकार आर्य संस्कृति के साथ आर्योत्तर द्रविड़ और आदिम जातियों की संस्कृति को जान-बूझकर शामिल किया गया है। पूर्वरंग में मृदंग का निर्वाण और सामूहिक नृत्य, किरात, हिरण्यकशिपु तथा दैत्य पात्रों का सविस्तर प्रत्यक्षीकरण और नाना देवी-देवताओं का पूजन—ये सब इसी समीकरण पद्धति के परिणाम हैं। मध्ययुग में जब भागवत धर्म के प्रचार के लिए नाट्य को माध्यम बनाया गया, तब तो विशेष सावधानी और उदारहृदयता के साथ शंकरदेव इत्यादि तत्कालीन सन्तों ने हरिजनों एवं वन्यजातियों की कलाओं और कतिपय प्रथाओं को अपने नाट्य में सम्मिलित किया। शायद यही कारण है कि आज दिन देश के अनेक भागों में ये परम्पराशील नाट्य शूद्र और अर्द्ध-आदिम जातियों द्वारा बड़े प्रेम के साथ एक धरोहर के रूप में चालू किये जाते रहे हैं।

परम्पराशील नाट्य वर्तमानकाल में इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है कि आंचलिक होते हुए भी इसके सूत्रों में देशव्यापी एकता का बोध होता है। अंगरेजी-राज्य ने हमें राजनीतिक एकता और यातायात के साधन तो दिये, किन्तु हमारे इन्द्रधनुषी मानसपटल के रंगों के पार्थक्य को और भी गहरा कर दिया। पर, कुशल बुनकर के विविध रंगों के धागों की तरह ये पृथक् वृत्तियाँ वहिरंग के नीचे लुप्त होकर पुनः देश के किसी दूर कोने में निखर उठती हैं। इन बहुव्यापी रंगीनियों के मूल में हैं चार धाराएँ—वैदिककाल से ही प्रचलित प्रेमाख्यान, भरतमुनि द्वारा प्रचलित रंगपद्धति के विदूषक-सूत्रधार-पूर्वरंग, मध्ययुग में प्रादुर्भूत भागवत-धर्म की प्रबल आस्थाएँ और तत्सम्बन्धी कथाएँ, एवं जयदेव के गीतगोविन्द द्वारा समृद्ध की गई संगीतिक शैली, जिसने सारे भारतवर्ष में मन्दिरों और मेलों को रसनिमज्जित कर दिया।

क्या एकता का यह आधार कायम रह सकेगा? क्या नवीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विषमताओं की जटिलता परम्पराशील नाट्य जैसे सहज माध्यम के अस्तित्व स्वीकार करेगी? इन नाट्य-विधाओं के प्रति अपरिमित श्रद्धा रखते हुए भी मैं स्वप्नलोकका वासी नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि ये आंचलिक विधाएँ आज की रुचि के लिए अपरिष्कृत हैं, इनके रूढ़ पात्रों में चरित्र-विश्लेषण का अभाव है, इनके कथानकों में वर्तमान विश्व के मानव को भुलावा दीखता है, आश्वासन नहीं। फिर भी, एक दूसरी दिशा में इन परम्पराशील नाट्यों के प्रभाव की प्रतीति मुझे भावी साहित्य और रंगशाला के क्षितिज पर होती है। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य हाल ही में यथातथ्यवादी—अमूर्तमूलक और निषेधात्मक विधाओं के जंजाल से निकलकर पुनः मध्ययुग की उन्मुक्त गान-नृत्य-विभूषित

और उद्बोधक एवं भावोन्मेषी संलाप से शृंगार रंगशाला और नाट्य की ओर जा रहा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है जर्मनी के नाट्यकार ब्रेस्ट की विश्वव्यापी लोकप्रियता। आज ब्रेस्ट के नाम की दुहाई पश्चिम के अत्याधुनिक नाट्यविशेषज्ञ दे रहे हैं। एक नये प्रकार का उल्लास पाश्चात्य रंगमंच पर छाता जा रहा है। मुझे आशा है कि भारतवर्ष में नई पीढ़ी हमें यथातथ्यवादी जंजाल में फँसने से पूर्व ही इस नये उल्लास का भागी बनायेगी; क्योंकि हमारे पास उपकरण पहले से ही मौजूद हैं। ये परम्पराशील नाट्यशैलियाँ अभी मृतप्राय नहीं हुई हैं। मैं नवोदित नाट्यकारों और रंगप्रयोक्ताओं को आमन्त्रित करता हूँ कि वे इन परम्पराओं से प्रेरणा प्राप्त कर सच्चे अर्थ में अत्याधुनिक, किन्तु पूर्णतः भारतीय नाट्य और रंगमंच की सर्जना करें।

शब्दानुक्रमणी

अ

अंकिया नाट (क) — ५, ६, २६, २७, २८,
३४, ४२, ४७, ४८,
४९, ५४, ५७, ६०,
६५, ६६, ६७, ७०,
८०, ८१, ८५, ८७,
८८, ८९, ९१, ९२,
१०६, १२०

अंगहार — १०, ५६
अकबर — ३०
अकला — ३२
अखिल भारतीय मैथिली-साहित्य-समिति — १६
अग्निधर — ८२, ८३, ८४
अग्रहारम् — २३, ३२
अच्युतप्पा नायक — ३१
अट्टप्रकार — ५१
अठाणा — ६६
अडासोगु — ४६
अथर्ववेद — ३
अबुल हसन तनाशा — ३२
अभिनय — १०, १३, १४, १६, २७, ३२,
५१, ६८, ७८, ८२
अभिनवगुप्त — ६, १३८
अमृतमन्थन — १०
अरिया — ८०, ८१, ८२
अर्जुनभंजन-लीला — २६
अलीशाह — ३४
अश्वघोष — ४
अष्टछाप — २६, १२०

आ

आखमिचीनी-लीला — २६
आक्सफोर्ड कम्पेनियन ऑव ड्रामा — ४
आट — ६३
आठाणा — ६६
आडू-कापड — ६४, ८२, ८३, ८४
आडोसोगु — ७८
आरडाल — ६६
आसारित गीत — १०

इ

इंगलीका — ६६
इन्दरसभा — ३५
इन्दुवाला देवी (श्रीमती) — १२१, १२१ टि०
'इरंगुलर प्लेज' — ६

उ

उदयकरण — २७
उद्धव-गोपी-संवाद — २६
उपेन्द्र ठाकुर — १५
उभयाभिसारिका — १०, ११
उमापति — १६, १६, २६
उमापति उपाध्याय — ११, २५, ८८
उमापति ठाकुर — १६, १६
उमेश मिश्र (डॉ०) — ११, १६
उल्लाष्य — ६
उस्ताद इन्दरमन — ६६
ऊँचाग्राम — २७
ऊर्गवेद — ३

ए

एकसरनिया (मत) — २४, २६
एच० के० रंगनाथ (डॉ०) — १५, ३३, ६६ टि०
एलर्डीस — ६३
एस० वी० जोगाराव — ३१, ३२
'ए हिस्टरी ऑव ब्रजवृत्ति' — २६, ३०

ओ

ओइनवर-वंश — १६, ३४
ओपरा — ८२
ओपेरा-गैली — ३५
ओवचर — ८२
ओ० सी० गांगुली — ६२

क

कक्ष-कला — ५२
कट्टियंगरन — ४६
कट्टियक्करण — ७१
कठ — ८०, ८१

कडिगे—६६
 कण्ठीरव नरसराज—३२
 कथक-नृत्य—५७
 कथकलि (ली)—३३, ५७, ६७, ७८
 कथन-नृत्य—५६
 कथासरित्सागर—३६
 करण—१०
 करहला—२७, २८
 करियाला (नाट्य)—५, ७, ३५, ४३,
 ६१, ६३, ६५, ७१

कलाप—३२
 कविराजमार्ग—१५
 काकतीय—१५
 कातिक-नाच—१६, ८७
 कादम्बरी—११
 कारू धेमाली—८१
 कालिदास—१०, ११
 कालियदमनयात्रा—२४, २५, २६, ३४
 काव्यावलोकन—१५
 किरातार्जुनीय (नाट्य)—७८
 किरीट—६५
 कीथ (डॉ०)—६, १२
 कीर्त्तनिया (नाट, नाटक)—५, ३४, ४८,
 ५४, ८७, ८८,
 ८६, ६२

कीर्त्तनिया नाच—१६
 कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह—२८, २६
 कुँवर निहाल दे—४०
 कुचिपुडिभागवतम्—१५, ३२
 कुट्टनीमतकाव्य—५१
 कुम्भनदास—२६
 कुम्भवंजी—३२
 कुलशेखरवर्मन्—१३, १४, १८, ३२,
 ३३, ६१,

कूचामन की शैली—३३
 कूचिपुडि—५, २३, ३१, ३२, ४२, ५६
 कूटि (डि) याट्टम् (नाट्य)—५, ७, १०,
 १३, १४, ३३,
 ४६, ५०, ५१,
 ५७, ६६, ६८,
 ६६, ७०, ७८

कूत्तु—१४
 कूथाम्बलम्—१४, ६१
 कृष्णदेवराय—१६, २३

कृष्णमिश्र—४
 कृष्णाट्टम्—३३
 के० के० ब्राह्म—३४
 केलिगोपाल—२५
 कैप्टन टैम्पल—३३
 कोनंगी—५०
 क्रियाचवट्टु—७०
 क्रेडिट—७२
 क्रूजेडो—८०
 'क्लोज-अप'—५६
 क्षेत्रव्या—३२

ख

खलीफा—४६, ७१
 खुदादोस्त—४०
 खेमकरण—२७
 ख्याल (नाट्य)—५, ७, ३३, ३५, ३६,
 ४०, ४१, ५१, ५५, ६८
 ख्याल-पद्धति—५४
 ख्याल-मण्डली—३३

ग

गजपति कपिलेन्द्रदेव—२१
 गणेश-सुमिरन—८६
 गाठी-कापड़—४६, ८१, ८३
 गाठी-सेला—४६, ८३
 गायन—८२
 गायन-वायन—६३, ६५, ६६, ८२, ८३,
 ८४, ८६, ८७
 गीतगोविन्द—१२, १३, १६, २३, ४८,
 ५४, ६१, ८६, १३६

गुरुघेठा—८१
 गुरुधाय—८१
 गुसाई-कापड़—८१
 गाटिपुञ्ज—२३
 गोपाल अता (आता)—११, २६,
 गोरक्षविजय—११, १६
 गोरे ग्वाललीला—३०
 गोलकुण्डा—३२
 गोल्लकलापम्—३२
 गोविन्दहूलासनाटक—२८, २६, ३२
 गौनेवारी-लीला—३५
 ग्यासुद्दीन तुगलक—१५
 'ग्रीन रूम'—६५, ६२

घ

घमण्डदेव—२७
घूरी—८३
घोपा—८१
घोपा घेमाली—८१
घोमुण्डा—३३

च

चण्डीमंगलयात्रा—४३
चण्डेश्वर ठाकुर—१६
चतुर्भाषी—६, १०
चतुर्वेद—८
चन्दसखी—३४
चन्द्रकिरण—४०
चन्द्रावली—७१
चन्द्रावली-लीला—३४
चम्पू—१४
चर्यापद—१२
चविट्टु (ट्टू)—५, ५१
च (चा) विट्टुनाटकम्—३३, ५६, ७६, ८०
चाक्यार—१४, ४६
चाचा (श्री) हितवृन्दावन दास—३५, ११५
चार्ल्स (वादशाह)—८०
चालुक्यस्वामी—१५
चिक्कदेवराज—३३
चित्तीर—३३
चित्ताभिनय—१०
चिह्नयात्रा—२४
'चूडी'—४६
चैतन्य (महाप्रभु)—३५, ४२, ४३, ४८, ६६
चोरधरा—२६
छापर—६५, ८२, ८६, ८८
छागूह—६५, ८८

ज

जगदीशचन्द्र माथुर—६० टि०
'जट-जटिन'—५१, ६४, १२०, १२१, १२१
टि०, १२२, १२३, १२४,
१२७, १३१, १३४
जनकदास—८८
जन्मलीला—२७
जमीनिका—६५, ८८, ८६
जयकान्त मिश्र (डॉ०)—११, १६, १६
जयदेव—१२, १६, २२, २३, ३०, ३६,
४८, ५४, ६१, ८६, १३६

जर्जर—३

जस्मा श्रोदन—४१

जात्रा (नाटक)—१०, २६, ३४, ३५, ४२,
४३, ४८, ५२, ५५, ६४, ६३

जात्रा-रंगमंच—३५

जानकीप्रसाद भट्ट (गोस्वामी)—२८

जॉन मैलकम—४४, ६४

जालिमासिह—७५, ७६

जीवगोस्वामी (मिन्)—२७, २८, २९

जैनरासक—२३

जैनुल आब्दीन—३४

ज्योतिरीश्वर—२१, २६

ज्योतिरीश्वर ठाकुर (कविशेखराचार्य)—११,
१६, १७, १८, १६, २५, ५१

झमुरा—२६, २७, ४२

झूमर—१२२

ट

'टिक'—५५

'टिक-का-पाट'—६६

ड

'डिकलेमेटरी'—४८

'डिबलपमेण्ट आँव कन्नड ड्रामा'—१६

डी० आर० वेन्द्रे—१५

'ड्रॉन'—५५

त

तंगाली—८३

तंजपुरप्रदाना महानाटक—३२

तवरजीन—७८

तमाशा—५, १०, ३३, ४४, ४८, ५१, ५५,
६२, ६६, ६३

तमाशा-मण्डली—६२

'तलवार देना'—५०

'तीन-खन का खेल'—६४

तीयाट्टु—१३

तुराकिलिगी—३३, ६४

तुलसीदास (गोस्वामी)—३०

तोलन—१४, १७

तेरुकूथु—३१

त्रिगत—७१

थयीकोण्ड—२३

थापना—८१

द

'द कर्ना (र्णा) टक थिएटर'—१५, ३३, ६८,
 ६९ टि०
 दगले—६९
 'द ट्रेडिशनल थिएटर ऑव राजस्थान'—२३
 दधिभाण्डभंजनलीला—२८
 'द फोक थिएटर ऑव आन्ध्रप्रदेश'—३१, ३२
 दरदपत्र—७८
 दधु—५४
 दधु-पन्तुवराली—६८
 दधु-भैरवि—६७
 'द लेजेण्ट ऑव द पंजाब'—३३
 दशरथ ओझा (डॉ०)—२३, २६, ६० टि०
 दशरथ शर्मा (डॉ०)—२३
 दशावतार—४२
 'द संस्कृत ड्रामा'—६
 दानकेलिकौमुदी—२६
 दानलीला—२७, २९, ४२
 दामोदरगुप्त—५१
 दीपचन्द—४०
 दुलरी-लीला—३५
 देवासुर-संग्राम—३
 देवीलाल सामर—३३
 देशी राग—६
 देश्यप्रकरण—१५
 दैत्यारि ठाकुर—२६
 दोड्डाता—७६, ७७, ७८
 दौ (दो) डाट्टा—५, ३३, ३५, ४६, ७१,
 १३४
 द्विजभूषण—२६
 द्विप (द) दा—६५, ६७

ध

धनंजय—६
 धमार—८१
 धूर्तसमागम—११, १६, १९
 धर्माली—८१, ८२
 ध्रुपद—३०
 ध्रुव—३०, ३१, ५४
 ध्रुवपद—१२, ५४, ५५
 ध्रुवपद-पद्धति—५४
 ध्रुवा—५५
 ध्रुवागीति—५५

न

नकल—४६
 नगय्या—२३
 नगेन्द्र (डॉ०)—५८, ५८ टि०
 नटराज रामकृष्ण—१५, २३
 नटांकुश—१४
 नत्थाराम—४०
 नत्थाराम शर्मा गौड़—६६
 नन्दगाँव—६१
 नन्ददास—२६
 नन्दिकेश्वर—६
 नम्बूतिरी—१४
 नरसिंहराय—१६
 नरसिंहार्य—३३
 नर्मसचिव—५०
 नवधेमाली—८२
 नागवर्मा द्वितीय—१५
 नागानन्द—१५
 नाटकचन्द्रिका—२६, ३१
 'नाट्य' (पत्रिका)—३१, ३२, ३३, ३४
 नाट्यमेल—२२
 नाट्यशास्त्र—३, ५, ६, १०, ५६, ५८,
 ६८, ७०, ७१, ८०, १३७,
 १३८, १३९
 नान्दी—२०, ८३
 नान्दी-पाठ—७१, ८३
 नान्दी-श्लोक—७०
 नान्यदेव—१५
 नान्यार—४६, ५१
 नामघोषा—८१
 नाम्बियार—४६
 नायक—४६
 नायक-वंश—३१
 नारायणभट्ट—२४, २७, २८, २८ टि०,
 २९, ३०, ३१
 नालपगरन—१५
 निकुंजभेदलीला—२८
 निकुंजरत्नलीला—२८
 निजामुद्दीन—६२
 निम्बार्काचार्य—२३
 निर्माल्य—८२
 नृत्त—३२
 नृत्य—३२

नृपतुंग—१५
नृसिंहावतार—४२
नृसिंहावतार—६, ६४
नेपथ्य—६, ६५
नेपथ्य-गृह—८२, ८३, ८६
नौकालीला—२६
नौटंकी—५, ७, ३५, ३६, ३६, ४०, ४७,
५१, ५२, ५३, ५६, ६४, ६६,
६७, ६६, १०६

प

पंचम वेद—१, ३, ४, ५, ८
पत्नीप्रसाद—२५
पत्र—७८
पद—३०, ३१, ५४
पदम—३२
पद्मा—४०
परमानन्ददास—२६
परशुरामविजय—४२
परशुरामविजयव्यायोग—२१
पल्लव—५६, ७८
पवाड़ा—५५
पारस्परिक गालिदानलीला—२७
पारिजातनाटक—८६
पारिजातलीला—५६
पारिजातहरण (नाटक)—११, १६, १६,
२५, ३४, ४२,
८८, ८६, ६१
पारिजातहरणलीला—५६
पिछवई—६५
पिम्पिर गुछुवा—२६
पुनीत वस्त्र—८२
पुरन्दरविजय—११
पुराट्टु—१४
पुरुषोत्तम दीक्षित—३२
पुष्टिमार्ग—२४
पुष्पचयनलीला—२७
पूर्वरंग—६, १०, १४, ३५, ३७, ६८, ७०,
७१, ७२, ७६, ७८, ८१, १२३, १३६
'पेण्टोमाइम'—८६
पौढ़—६६
पौम्बे किरीट—६८
प्रकारम्—६१
प्रबोधचन्द्रोदय—४

प्रयोक्ता—१०, १३, १६, २६
प्ररोचन—७१
प्रवचनात्मक अभिनय—४८
प्रवेश-नृत्य—८३
प्रस्तावना—१२१
प्रहसन—१६, १६, २१, ४३, ४४, ७८
१२४, १२५

प्रह्लादचरित—६४
प्रह्लादनाटक—६५
प्राकृतपैगलम्—१२
प्राचीन भाषा-नाटक-संग्रह—६० टि०
प्राणचन्द्र—३०
प्रेमांकुर (नाटक)—२७, २८, ३१
प्रोलिंग—८०

फ

फट्टे बापूराव—४४
फणीश्वरनाथ 'रेणु'—८८
फोक ड्रामा—४
फोक प्ले—४, १२१
फोक प्लेज—१३७

व

वंगदर्शन—२६
वट्टालु किरीट—६६
वड्ढायन—८०, ८२, ८३
वड्ढेमाली—८१
वड्ढायन—८०, ८२
वनजारी लीला—३५
वसन्तदावेश—६८
वसन्त रॉयल एशियाटिक सोसाइटी—१६
वयलाट—६३, ६५, ६७
वयालु—६३
वरसाना (ने)—२७, २८, ६१
वलप—६६
वलराज—६१
वादी के खम्भे—६५
वाणभट्ट—११
वायन—८०, ८१, ८२, ८८
वालिवधनिका—४६
वालुबा—४४
विज्जुदेवता—६१
विदापत नाच—४८, ५६, ६४, ६५, ७१,
८७, ८८, ८६, ८२

विदेसिया (नाटक)—५, ३५, ४४, ४८,
५३, ७०, ११०, १११
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्—१२१
बूढ़ी लीला—२७, २८, ३०
ब्रजोत्सवचन्द्रिका—२७, २८, २८ टि०, ३१
ब्रेष्ट—१४०

भ

भक्तिगान—५५
भक्तिरसामृतसिन्धु—३०, ३१
भगत—४६
भगत-शैली—४६
भटिमा—८३, ८४, ८७
भरत—(मुनि, आचार्य)—३, ४, ६, ६,
१०, १४, ३६,
५६, ५७, ५८,
६८, ७०, ७१,
८०, १३७,
१३८, १३९

भरतनाट्य—५७
भरतवाक्य—३, ८७
भवई—५, ३५, ३६, ४१, ४८, ४९, ५६,
६१, ६६, ७०, ६३
भाँड़—६, ७८
भाँड़ज(श)शन—५६, ५७, ६५, ७८
भाँड़पथ—३४
भाओनाघर—६१, ६३, ८०, ६१
भागवत(ग्रन्थ)—१०, २६, ६३
भागवतनाटक—३२
भागवतुलु—२३, ३१
भागवतम्—२३
भागवत(म्)-पद्धति—२३, ३१
भागवतमेल—५, ६, १०, २२, ३०, ३१,
३५, ४६, ५०, ५४, ६०, ७०,
७१, १२०,
भागवतर—५१, ७१, ७६, ७८
भाण—६, १०, ११, १४, ४३, ७८
भाणिका—२६
भाण्डज(श)शन—५, ७, ६, ३४, ७१
भामाकलापम्—३२, ४२, ५६
भारतनाट्यशास्त्रटीका—१५
भारलीला—२६
भाषागीत—१६, १७, २०, २१, २२, २७
भाषाधर्तसमागम—१६, १७

भाषा-नाटक—५७
भाषानाटकसंग्रह—६० टि०
भाषा-नाट्य—२०, २४, २६, ३१
भाषा-रंगमंच—३१, ८७
भाषा-संगीतक—१३, १६, १६, २१, २२,
२३, २५, २७, २६, ३०,
३१, ३२, ३७

भास—४, १४
भिखारी ठाकुर—४४, ४८, ११०
भूमिलुटिया—२६
भोजनविहार—२६, २७
भोटताल—८०
भोताल—८०
भ्रमरगीत—२६

म

मगरोकनीलीला—२७
मण्डलाकार नर्तन—२४
मदनाराधन—११
मदना—३२
'मदुरा वाँयज'—६२
मद्रास-अकादमी—४७
मनसुखा—५०
मन्नारदासविलासम्—३२
ममर्स प्ले—४
मसखरा—६८, ७८, ७६
महागीत—१०
महात्मा प्रेमानन्द—३५
महाप्रभु चैतन्य (देव)—२४, २६
महाप्रभु हितहरिवंश—२४
महाभारत—५, ४१, ४८, १२४
महारासलीला—२६
महासामन्त मार्तण्डय्या—६१
महेश ठाकुर—३४
माँच—५, १०, ३३, ३५, ३६, ४०, ४१,
४४, ४६, ५१, ६४
माँच-शैली—३३
माघ (कवि)—७८
माथुर चतुर्वेदी—२४
माधवदेव—११, २६, २७, ४२, ८१
माधव-सम्प्रदाय—२४
माधवी—३२
माधवेन्द्रपुरी—२४
मानुची—८०

मारोचि-परिणय—२३
 मार्गी राग—६
 मालतीमाधव—१५
 मालविकाग्निमित्र—१०, ११
 मिट्ठारानी—४४
 मित्रवृन्दगोविन्द—३३
 'मिस्टरी-मिरैकिल साइकल'—२८
 मुकाम-पद्धति—३४
 मुखमुद्रा—४६, ५६
 मुखौटा—६, ६६, ७०, ६१
 मुटियेट्टु—१३
 मुड़ाखोला—८२
 मुद्रा—६, ३६, ४६, ४७, ४६, ५१, ६०
 ८२, ८३
 मूंगीलाल—८८
 मूलगाइन—८८, ८६, ६०, ६१, ६२
 मुच्छकटिक—१०
 मेघदूत—१०, १११
 मेघा भगत—३०
 मेलातूर—३१, ४६, ४७, ५०, ५४, ६१,
 ६३, ६४, १२०
 मैलकम—४५
 मोहनलाल—८८

य

यक्कलगान—१५
 यक्षगान—५, १५, २३, ३१, ३२, ४७,
 ६३, ६५, ६७, ६८
 यजुर्वेद—३
 यवनिका—६४, ६५
 यात्रकलि—१४
 यात्रा—५, ६५
 यादवप्रकाश—११

र

रंगजम्मा—३२
 रंगनाथ (डॉ०)—६८
 रंगपूजन—७०
 रंगप्रयोक्ता—१३८
 रंगीली रेश्मा—४०
 रघुनाथ नायक—३१
 रघुनाथाभ्युदयम्—३१
 रघुवंश—१०
 रभा—६१, ६३

रम्मत—५
 रम्मत-पद्धति—३३
 रवीन्द्रनाथ ठाकुर—६६
 रस-सिद्धान्त—५८ टि०
 रसाभिनय—३२
 राक्कसी किरिट—६६
 रागपद्धति—५४
 राघवन (डॉ०)—५५
 राजनीतिरत्नाकर—१६
 राजशेखर—४
 राजा भरथरी—४१, ४६
 राजा मीननाथ—२०
 राधावल्लभ-सम्प्रदाय—२४
 रामचन्द्रगुणचन्द्र—६
 रामचरण ठाकुर—२६
 रामचरित—६
 रामचरितमानस—३०
 रामलीला—५, ३०, ४२, ५१, ६४, ६५
 ६६, ६३

रामविजय—२५
 रामायण—४१
 रामायण महानाटक—३०
 रावण-वध—४२
 रास (नृत्य)—२४, २७, ३०
 'रास और रासान्वयी काव्य'—२३
 रासक—६, २३
 रासधारी—२६, ३०
 रासनृत्य—२४, ८६
 रासपंचाध्यायी—२६
 रासलीला—५, १०, २७, २८, २६, ३०,
 ३४, ३५, ४२, ५०, ५१, ५५,
 ५६, ६०, ६४, ६५, ६६,
 ६६, ६३, १०६, ११५

'रुकुनि'—६०
 रुक्मिणीहरण—२५, ४२, ५७
 रुक्मिणीहरणनाट (क)—८०, १०६
 रूपगोस्वामी (मिन्)—२४, २७, २८, २६,
 ३०, ३१, ३२

रेभिल—१०

ल

लक्ष्मीचन्द—४०
 लखनऊ-गजेटियर—४४
 लघुप्रहसन—१२४, १२५

लटक—६१
 ललितमाधव—२६
 लांगर—१२२
 लाङ्गसागर—११५
 लावनी—५५
 लिंगायत-सम्प्रदाय—७७
 लीलागान—२४
 लीलानाटक—३०
 लीलोचमन—४०
 लीलोत्सवमाला—२७, २८
 लोकनाटक—४
 लोकनृत्य—५

व

वंशीधरविलासनाटकम्—३२
 वचनम्—६४, ६५, ६६, ६७
 वनविहारलीला—२७
 वररुचि—१०
 वर्णनरत्नाकर—१६, ३१, ५१
 वर्द्धमानक—१०
 वर्ल्ड ड्रामा—६३
 वल्लभ—२७
 वल्लभाचार्य—२४, २७, ४२
 वांग्येय-व्याख्या—१४, ३१
 वास्तिक-गान—५३, ५५
 विक्रमादित्य—१५
 विक्रमादित्य षष्ठ—१५
 विक्रमोर्वशी—१२, १५
 विजयनगर—१६, २१, २३, ३१
 विजयराघव—३२
 विजयराघव नायक—३१, ३२
 विदग्धमाधव—२६, ३२
 विदूषक—६, १४, ४८, ४९, ५०, ६८,
 ७०, ७६, ७८, ७९
 विद्यापति—११, १६, २०, २१, २५, २६,
 ३४, ८६
 विरंचिकुमार वरुआ—२६
 विरहलीला—२६
 विल्वमंगलस्तोत्र—२६
 वीथिनाटकम्—६, ३१, ४६
 वीथी—६
 वीरगान—५५
 वीरनरसिंहराय—२२
 वृत्ति (नाट्य)—१३७

वेली—११५
 'वेश'—४८
 वैजयन्ती—११
 वैष्णवगान—५५
 वैष्णवनाट्य—२६

श

शंकरदेव (महापुरुष)—१६, २३, २४, २६,
 २७, २८, ३४, ४२,
 ४७, ४९, ७०, ८०,
 ८१, ८३, ८८, ९२,
 १०६, १३६

'शंकरदेव द सेण्ट ऑव आसाम'—२६

शाकुन्तल—१०
 शारदानयन—६
 शालेतूर—१६
 शाहजी—३२
 शिल्पधिकारम्—१४
 शिवसिंह (राजा)—२१
 शिवाजी—३२
 शुभंकर—११
 शेखावट की शैली—३३
 शेरमार खाँ—४६, ५०
 श्रीकुन्दनगर—१६
 श्रीकृष्णलीला—६
 श्रीगदित—६
 श्रीमद्भागवत—१२, ६१, ८१
 श्रीलक्ष्मीनारायणकल्याणम्—३३
 श्रीश्रीनारायणभट्टचरितामृतम्—२८
 श्रीहर्ष—१४

स

'संगी'—८३
 संगीत—१०, १२, ५३, ६४
 संगीतक—१०, ११, १३, १६, २०, २५, ३२
 संगीतक-गृह—११
 संगीतक-शैली—१२, २१
 संगीतक-साहित्य—१३४
 संगीतदामोदर—११
 संगीत-नाटक-अकादमी—१५, २३, ३२, ३३,
 ३४
 'संगीत नोटोंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत'—६६
 संलाप—१२, ३६
 संवाद—२७

- सज्जामुह—६५
 सदफ भाइ—३४
 'सत्ताटा'—३३
 सभालक्षण—५१
 सम्राजी—३०, ८८
 सरस्वतीमहल-लाइब्रेरी—५४
 सरस्वतीमहल-संग्रहालय—३२
 सराई—८७
 सर्फोजी द्वितीय—३२
 सांकरिखार—२८
 सांग—५, ७, १०, ३५, ३६, ४०, ४१, ४३, ४७, ४८, ५१, ५२, ५३, ५६, ६६, ७५, ७६
 सांगीत—१०, ३३, ३६, ५६, ७०, ६६
 सांगीत-शैली—६६
 सांझीलीला—२७
 सागरनन्दी—६
 साज-घर—८८, ६२
 सामवेद—३
 सारन्दे—४०
 सारू धेमाली—८१
 सिद्धेन्द्र योगी—३२
 सिरिमुडी—६६
 सीसम्—६८
 मुंकरी कोण्डय्या—३२
 मुकुमार सेन (डॉ०)—२६, ३०
 मुभद्रा-धनंजय—१४
 गुलधार—६, १२, १३, २०, २६, ३०, ३६, ४८, ४९, ७०, ८३
 गुरदास—२६
 रामेश्वर प्रथम—१५
 'सोशल ऐण्ड पोलिटिकल लाइफ इन द विजय एम्पायर'—१६
 'स्टाक कैरेक्टर'—४६, ४६
 स्तीभ—४६
 स्याहपोश—४०, ४१, ६७
 स्वस्तिका—६५
 स्वांग—३३, ३४, ४३
 ह
 हनुमन्तन किराट—६६
 हनुमन्नाटक—३०
 हरदेवसिंह—११
 हरसिंहदेव—१५, १६, १८, १९, २१, ३२
 हरिदास (स्वामी)—२४
 हरिराम व्यास—२४, ३०
 हरिवंश—२६
 हरिसिंहदेव—१५
 हल्लीशकनृत्य—२४
 हल्लीस—६
 हसनशाह—३४
 हस्तमुक्तावली—३६, ८२, ८३
 हस्तमुद्रा—१४, ५६, ७८, ८२, ८३
 'हॉर्स प्ले'—७१
 हितवृन्दावनदास—३४
 हितहरिवंश—२७
 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास'—२६
 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा'—२८, २६
 हिन्दी-विद्यापीठ (आगरा वि०वि०)—६०टि०
 हिम्मेल—७७
 'हिस्टरी ऑव मिथिला'—१५
 हीरालाल जैन (डॉ०)—१२
 हृदयराम—३०
 हेमचन्द्र—१२
 होली-लीला—२६



आधुनिक अवस्थी

अवस्था

श्री नारायणेश्वर वेद वेदाङ्ग सामाजिक (उ.प्र.)

आधुनिक अवस्थी

अवस्था

श्री नारायणेश्वर वेद वेदाङ्ग सामाजिक (उ.प्र.)

